

905

# अथ वेदाङ्गप्रकाशः ॥

तत्रत्यः ।

दशमो भागः ।

पारिभाषिकः ।

पाणिनिमुनिप्रणातायामष्टाध्याय्यां नवमो भागः ।

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ।

पठनपाठनव्यवस्थायां द्वादशं पुस्तकम् ।

यच्चदत्तशर्मा शास्त्री के प्रबन्ध से वैदिक यन्त्रालय  
अजमेर में मुद्रित हुआ ।

इस पुस्तक के छापने का अधिकार किसी को नहीं है  
क्योंकि

इस को रजिस्टरी कराई गई है।

संवत् १९४८ पौष शुक्ला १०  
द्वितीयवार २००० पुस्तक छपे  
मुख्य ॥

## ॥ भूमिका ॥

संज्ञापरिभाषाविधिनिषेधनियमातिदेशाधिकाराख्यानि सप्तविधानि सूत्राणि भवन्ति । सम्यग् जानीयुर्यथा सा संज्ञा; यथा ( वृद्धिरादैच् ) इत्यादि । परितः सर्वतो भाष्यन्ते नियमायाभिस्ताः पारिभाषाः; यथा ( इको गुणवृद्धी ) इत्यादि । यो विधीयते स विधिर्विधानं वा; यथा ( सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ) इत्यादि । निषिध्यन्ते निवार्यन्ते कार्याणि यैस्ते निषेधाः; यथा ( न धातुलोप आर्द्धधातुके ) इत्यादि । नियम्यन्ते निश्चीयन्ते प्रयोगा यैस्ते नियमाः; यथा ( अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ) इत्यादि । अतिदिश्यन्ते तुल्यतया विधीयन्ते कार्याणि यैस्तेऽतिदेशाः; यथा ( आद्यन्तवदेकस्मिन् ) इत्यादि । अधिक्रियन्ते पदार्था यैस्तेऽधिकाराः; यथा ( कारके ) इत्यादि । एषां सप्तविधानां सूत्राणां मध्याद्यतोऽयं परिभाषाणां व्याख्यानो ग्रन्थोऽस्ति तस्मात्पारिभाषिको वेदितव्यः ॥

सूत्र सात प्रकार के होते हैं ( संज्ञा, परिभाषा, विधि, निषेध, अतिदेश, अधिकार ) अच्छे प्रकार जिस से जानें वह संज्ञा कहती है जैसे ( वृद्धिरादैच् ) इत्यादि । जिन से सब प्रकार नियमों की स्थिरता की जाय वे परिभाषा सूत्र कहते हैं जैसे ( इको गुणवृद्धी ) इत्यादि । जो विधान किया जाय वा जो विधान है वह विधि कहता है जैसे ( सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ) इत्यादि । निषेध उस को कहते हैं कि जिस से कार्यों का निवारण किया जाय जैसे ( न धातुलोप आर्द्धधातुके ) इत्यादि । नियम उनको कहते हैं कि जिन से प्रयोगों का निश्चय किया जाय जैसे ( अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ) इत्यादि । जिस से किसी की तुल्यता लेकर कार्य कहें वह अतिदेश कहता है जैसे ( आद्यन्तवदेकस्मिन् ) इत्यादि । और जिन से पदार्थों की विशेष अनुवृत्ति हो उन को अधिकार कहते हैं जैसे ( कारके ) इत्यादि । इन सात प्रकार के सूत्रों में से जिसलिये यह परिभाषाओं का व्याख्यानरूप ग्रन्थ है इसलिये इस का नाम पारिभाषिक रखा है

इन परिभाषाओं में से जो अष्टाध्यायीस्य परिभाषासूत्र हैं वे संधिविषय में व्याख्यापूर्वक लिख दिये हैं यहाँ केवल महाभाष्यस्य परिभाषासूत्रों का व्याख्यान है । परिभाषाओं का मुख्य तात्पर्य यही है कि दोषों का निवारण करके व्यवस्था कर देना । इसीलिये इस ग्रन्थ को बनाया है कि व्याकरण के सन्धि आदि प्रकरणों में जो २ संदेह पड़ते हैं वे इन परिभाषाओं के पठन पाठन से अवश्य निवृत्त हुआ करेंगे । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं । और इस में मूल परिभाषा के आगे जो संख्या पड़ी है वह अष्टाध्यायी के सूत्र की है उस सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य में वह परिभाषा लिखी है । और परिभाषा के पहिले जो संख्या है वह इस ग्रन्थ की है ॥

### इति भूमिका

स्थान महाराणा जी का उदयपुर  
आश्विन शुक्ल संवत् १९३८

दयानन्द सरस्वती

## अथ पारिभाषिकः ॥

### परितो व्यापृतां भाषां पारिभाषां प्रवक्षते ।

सब ओर से वैदिक लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार के साथ जिस का सम्बन्ध रहे अर्थात् उक्त तीनों प्रकार का व्यवहार जिस से सिद्ध हो उस को परिभाषा कहते हैं । इस पारिभाषिक ग्रन्थ में प्रथम परिभाषा की भूमिका लिख कर आगे लक्ष्य अर्थात् उदाहरण लिख के पुनः मूल परिभाषा लिखेंगे । और उस के आगे उस का स्पष्ट व्याख्यान करेंगे । अब प्रथम पाणिनीय व्याकरण अष्टाध्यायी के प्रत्याहारसूत्रों में ( अइउण्, लण् ) इन दो सूत्रों में लोप होने वाला हल् णकार पढ़ा है इस णकार से ( अण् ) और ( इण् ) दो प्रत्याहार बनते हैं । सो जिन सूत्रों में अण् इण् प्रत्याहारों से काम लिया जाता है वहां सन्देह पड़ता है कि किन २ सूत्रों में पूर्व और किन २ में पर णकार से ( अण् ) तथा ( इण् ) प्रत्याहार जानें इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### १—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् ॥

लण् सूत्र पर ॥

जिस सूत्र वा वार्तिक आदि में सन्देह हो वहां व्याख्यान से विशेष बात का निश्चय कर लेना चाहिये किन्तु सन्देहमात्र के होने से सूत्र आदि ही को अन्यथा न जान लें । जहां पृथक् २ देखे हुए दो पदार्थों के समान अनेक विरुद्ध धर्म एक में दीख पड़ें और उपलब्धि अनुपलब्धि की अवस्था हो अर्थात् जो पदार्थ है और जो नहीं है दोनों की उपलब्धि और दोनों की अनुपलब्धि होती है क्योंकि पदार्थों के साधारण धर्म को लेकर सन्देह होता है उन में से जब विशेष अर्थात् किसी एक का निश्चय हो जाता है तब सन्देह नहीं रहता जिन सूत्र आदि में सन्देह पड़ता है वहां उन में छः प्रकार का व्याख्यान करना चाहिये पदच्छेद, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ, पूर्वपक्ष-शङ्का, उत्तरपक्ष-समाधान इन छः प्रकार के व्याख्यानों से सन्देहों की निवृत्ति कर लेनी चाहिये ( प्रश्न ) जैसे प्रथम ( ढलोपे-

पूर्वस्य दीर्घाऽणः ) इस सूत्र में (अण्) प्रत्याहार पूर्व णकार से लेना वा पर से यह संदेह है (उत्तर) इस में निस्संदेह पूर्व णकार से लेना चाहिये क्योंकि जो पर णकार से लिया जावे तो इस सूत्र में (अण्) का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि (अचच्) इस सूत्र से ह्रस्व दीर्घ भूत अच् ही के स्थान में होते हैं इस से (अच्)की उपस्थिति होही जाती फिर (अण्) ग्रहण का यही प्रयोजन है कि इत्यादि सूत्रोंमें पूर्व णकार ही से लिया जावे (प्रश्न) और (अणुदित्त्वर्णस्य चाप्रत्ययः) इस सूत्र में (अण्) प्रत्याहार पूर्व णकार से वा पर णकार से लेना चाहिये (उ०) निस्संदेह पर णकार से (अण्) प्रत्याहार का ग्रहण है क्योंकि (उक्तं) इस सूत्रमें ऋकार तपर इसीलिये पड़ा है कि (अचीकृतत्) इत्यादि प्रयोगों में ऋकार को ह्रस्व ऋकार ही आदेश हो अर्थात् सवर्णग्रहण (अणुदित्०) परिभाषा सूत्र से ह्रस्व का सवर्ण दीर्घन हो जावे। जो पूर्व णकार से अण् ग्रहण होता तो पूर्व अण् में ऋकार के होने से ऋकार को सवर्ण ग्रहण प्राप्त ही नहीं फिर तपर क्यों पढ़ते। इस से स्पष्ट हुआ कि (अणुदित्०) इस सूत्र में पर णकार से और इसी एक सूत्र को छोड़ के अन्यत्र सब सूत्रों में पूर्व णकार से अण् ग्रहण है (प्र०) और (इण्कोः) इत्यादि जिनर सूत्रों में इण् प्रत्याहार पड़ा है, वहां पर पूर्व वा पर णकार से ग्रहण करना चाहिये (उ०) यहां सर्वत्र निस्सन्देह पर णकार से इण् समझना चाहिये क्योंकि पूर्वसे इण् प्रत्याहार में (इ, उ) दो ही वर्ण आते हैं सो जहां इन दो वर्णों से कार्य लिया है वहां (त्वोः) ऐसा इ उ को विभक्ति के साथ सन्धि करके पड़ा है यहां इण् पढ़ते तो कुछ गौरव नहीं था किन्तु आधी मात्रा का लाघव ही था फिर इण् प्रत्याहार के न पढ़ने से निश्चय हुआ कि सर्वत्र पर णकार से इण् प्रत्याहार लिया जाता है। अन्यत्र भी जहां कहीं शिष्ट वचन में सन्देह पड़े वहां व्याख्यान से विशेष करके सत्य विषय का निश्चय कर लेना चाहिये किन्तु उस वचन को व्यर्थ जान के नहीं छोड़ देना चाहिये और सन्दिग्ध लौकिक व्यवहारों का भी विशेष व्याख्यान से निर्णय किया जाता है ॥ १ ॥

(सार्वधातुकार्षधातुकयोः) यह गुणकार्य होने का काल है यहां (अलोन्त्यस्य, इको गुणवृद्धौ) इन दो परिभाषाओं की विधिसूत्र के साथ परिभाषाबुद्धि से एकवाक्यता ही इस लिये कार्यकाल परिभाषापक्ष, और जब (हयवरट्, हल्) यहां दो हकारों का उपदेश इत्यादि विषयों में सन्देह पड़े तब उस विषय के साथ सामान्य विषयकबुद्धि से परिभाषारूप व्याख्या की एकवाक्यता होवे। इसलिये यशोदेश पक्ष है। इस से ये दोनों परिभाषा की गई हैं ॥

## २-कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ॥

### ३-यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् ॥ अ० ॥ १ । १ । ११ ॥

( कार्यस्य कालः कार्यकालः कार्यकालः कालोऽस्य तत् कार्यकालम्, संज्ञा च परिभाषा च तत्संज्ञापरिभाषम्, उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम् ) संज्ञा और परिभाषा का समय वही है जो कार्य करने का काल होता है उसी समय उन की उपस्थिति होती है । जैसे दीपक एक स्थान पर रक्वा हुआ सब घर को प्रकाशित करता है वैसे परिभाषा भी एकदेश में स्थित हो कर सब शास्त्र के विषयों को प्रकाशित करती है इस में प्रमाण (परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्ववेदमाभिज्वलयति ) महाभाष्य० २ । १ । १ ॥ और यथोद्देशपक्ष से प्रयोजन यह है कि जिस विषय पर जिस परिभाषा का उच्चारण किया हो वह उस का उल्लंघन न करे अर्थात् उस विषय के अनुकूल उस की प्रवृत्ति होवे । इन दोनों पक्षों में भेद यह है कि कालपक्ष की परिभाषा किसी की दृष्टि में असिद्ध नहीं मानी जाती । और यथोद्देशपक्ष की परिभाषा असिद्ध प्रकरण में नहीं लगती ॥ २ । ३ ॥

( दाधाव्दाप् ) इस सूत्र में अदाप् कहने से दाप् लवने धातु का निषेध हो सकता है फिर दैप् शोधने धातु की घुसंज्ञा हो जावे तो (अवदातं मुखम्) यहाँ अनिष्ट दत् आदेश प्राप्त है इसीलिये दैप् धातु की घुसंज्ञा इष्ट नहीं है इत्यादि प्रयोजनों के लिये यह परिभाषा की गई है ॥

### ४-अनेकान्ता अनुबन्धाः ॥ अ० ॥ १ । १ । २० ॥

प्, ज्, ङ्, क् इत्यादि अनुबन्ध जिन धातु आदि के साथ युक्त होते हैं उन के एकान्त अर्थात् अवयव नहीं किन्तु वे अनुबन्ध उन धातु आदि से पृथक् हैं । इस से यह सिद्ध हुआ कि "दैप्" धातु को एजन्त मान कर आकारादेश किये पीछे दाप् मान कर इसी घुसंज्ञा का निषेध होता है इसी से (अवदातं मुखम्) यहाँ दोष नहीं आता ॥४॥

अब (अनेकाल् शिक्त्वस्य) इस सूत्र से (अनेकाल्) और (शित्) आदेश संपूर्ण के स्थान में होते हैं (इदम इश्, अष्टाभ्य औश्) यहाँ (इश्) और औश् भी शकार के सहित अनेकाल हैं फिर अनुबन्धों \* के एकान्तपक्ष में शित् ग्रहण ज्ञापक है इस से यह परिभाषा निकली ॥

\* अनुबन्धों में एकान्त और अनेकान्त दोनों पक्ष माने जाते हैं और अनेकान्तपक्ष में परिभाषा का प्रयोजन दिखादिवा और एकान्तपक्ष इसलिये मानते हैं कि अनेकान्तपक्ष में क् जिस का इत् गया हो वह कित् नहीं हो सकता क्योंकि कित् शब्द में बहुव्रीहि सहास से अन्य पदार्थ प्रत्यय के साथ ककार अनुबन्ध का मुख्य सम्बन्ध नहीं घटता और एकान्तपक्ष में घट जाता है और अनेकान्तपक्ष में शकार अनुबन्ध से शित् अनेकाल् नहीं हो सकता फिर एकान्तपक्ष के विधी ही अगली ५ । ६ । ७ तीनों परिभाषा हैं ॥

### ५-नानुबन्धकृतमनेकालत्वम् ॥ अ० ॥ १ । १ । ५५ ॥

अनुबन्ध के सहित जो अनेकाल् हो उसको अनेकाल् नहीं मानना किन्तु जो अनुबन्धरहित अनेकाल् हो वही अनेकाल् कहाता है इस से यह आया कि (इष्) आदि आदेश शित् होने से अनेकाल् नहीं होते तो (शित्) आदेश सार्थक होकर स्वार्थ में इस परिभाषा का चरितार्थ होगया और अन्यत्र फल यह है कि जो अर्बन् शब्द को (अर्बणस्त्रसावनजः) इस सूत्रसे (ह्र) आदेश कहा है उस को ऋकार अनुबन्ध के सहित अनेकाल् मान लेतो सर्वादेश अनिष्ट प्राप्त हो अन्त्य को इष्ट है अनुबन्ध कृत अनेकाल् न होने से सर्वादेश नहीं होता इत्यादि अनेकप्रयोजन हैं ॥ ५ ॥

अब इस पांचवीं परिभाषा के एकान्तपक्ष में होने से दैप् धातु के प्रकार का लोप प्रथम होगया क्योंकि लोपविधि सब से बलवान् है । लोप किये पीछे आकारादेश करने से (अदाप्) इस से घुसंज्ञा का निषेध नहीं हो सकता । और किसी प्रकार प्रकार का लोप प्रथम न करे तो अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में दैप् धातु एजन्त नहीं पुनः आकारादेश नहीं प्राप्त है तो (अवदातं सुखम्) यहां घुसंज्ञा होनी चाहिये इसलिये ज्ञापकसिद्ध यह परिभाषा है ॥

### ६-नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ॥ अ० ॥ ३ । ४ । १९ ॥

अनुबन्ध के होने से एजन्तपन की हानि नहीं होती (उदीचां माङो०) इस सूत्र में (मेङ्) धातु का माङ् निर्देश नहीं करते तो व्यतिहारग्रहण भी नहीं करने पड़ता क्योंकि मेङ् धातु का व्यतिहार अर्थ ही है फिर (उदीचां मेङः) इतने छोटे सूत्र से सब काम निकल जाता तो बड़ा सूत्र करने से यह आया कि अनुबन्ध के बने रहते ही आकारादेश हो जाता है कि जैसे मेङ् का माङ् बन गया अर्थात् अनुबन्ध के होने से भी एजन्तत्व की हानि नहीं होती । जैसे कि मेङ् में (ङ्) अनुबन्ध के बने रहते ही एच् निमित्त आकारादेश होगया इससे यह परिभाषा स्वार्थ में चरितार्थ हुई और अन्यत्र फल यह है कि दैप् धातु को भी अनुबन्ध के वर्तमान समय ही में एजन्त मान कर आकारादेश हो जाता है फिर अदात्त निषेध के प्रवृत्त होने से घुसंज्ञा का प्रतिषेध होकर (अवदातं सुखम्) प्रयोगसिद्ध होता है ॥ ६ ॥

अब अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में यह भी दोष आता है कि (अण्) और (क) प्रत्यय में (ण्, क्) अनुबन्धों के लगे होने से भिन्नरूप वाले समभे जावे फिर सरूप प्रत्यय नित्य बाधक होते हैं अर्थात् अपवाद विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती यह बात नहीं बनेगी इस से (गोदः, कम्बलदः) यहां

( अण् ) का अपवाद ( क ) प्रत्यय हो जाता है इस अपवाद के विषय में उत्सर्ग अण् भी होना चाहिये इसलिये आपकसिद्ध यह परिभाषा है ॥

७—नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ॥ अ० ॥ ३ । १ । १३९ ॥

जिन में अनुबन्धमात्र का भेद हो, वे भिन्नरूपवाले असरूप नहीं कहते । ( ददातिदधात्योर्विभाषा ) इस सूत्र में विभाषा ग्रहण इसलिये है कि ( श् ) प्रत्यय के पक्ष में आकारान्त से विहित उत्सर्ग रूप ( ण ) प्रत्यय भी होजावे और ( अण्, क ) प्रत्यय के समान ( ण, श्, प्रत्यय भी अनुबन्ध से असरूप और अनुबन्ध रहित सरूप ही हैं फिर असरूप प्रत्ययों में तो ( वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ) इस परिभाषा सूत्र से उत्सर्गापवाद विकल्प ही जाता फिर विभाषाग्रहण व्यर्थ होकर यह जनाता है अनुबन्धमात्रभेद के होने से असारूप्य नहीं होता अर्थात् ( ण, श् ) प्रत्यय असरूप नहीं हैं कि जो ( वाऽसरूप० ) परिभाषा से विभाषा होजावे इस से विभाषा ग्रहण स्वार्थ में चरितार्थ और अन्यत्र फल यह है कि इसी से ( गोदः, कम्बलदः ) यहां ( क ) अपवाद के विषय में ( अण् ) उत्सर्ग भी नहीं होता ॥ ७ ॥

अब संज्ञा दो प्रकार की होती है एक तो जो वाच्यवाचक संकेत से किन्हीं विशेष प्रयोजनों के लिये किसी का कुछ नाम रख लेना उस को कृत्रिमसंज्ञा कहते हैं और जो प्रकृति प्रत्यय के योग से यौगिक अर्थ होता है उस को अकृत्रिम संज्ञा कहते हैं । सो लौकिक व्यवहारों में तो यही रीति है कि जहां कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं का सम्भव हो वहां कृत्रिम संज्ञा ली जावे अकृत्रिम नहीं। यथा ( केनचिदुक्तं गोपालकमानयेति ) जैसे किसी ने कहा कि गोपालक को लेआ एक तो यहां गोपालक किसी निज मनुष्य का नाम है । और दूसरा जो कोई गौओं का पालन करे उसको गोपाल कहते हैं तो यह अर्थ किसी निज के साथ नहीं है । फिर इस कृत्रिमसंज्ञा वाले निज गोपालक का ही ग्रहण होता है ऐसे अब व्याकरण में जहां कृत्रिम अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं का सम्भव है जैसे धातु, प्रातिपदिक, बहुव्रीहि, तत्पुरुष, वृद्धि, गुण, सवर्ण, सम्प्रसारण, नदी इत्यादि शब्दों में कृत्रिम संज्ञा का ग्रहण हो वा अकृत्रिम का इसलिये यह परिभाषा है ॥

८—कृत्रिमाकृत्रिमयोःकृत्रिमेकार्यसम्प्रत्ययः ॥ अ० ॥ १ । १ । २३ ॥

जहां कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों संज्ञाओंमें कार्य होना सम्भव हो वहां कृत्रिम संज्ञा में कार्य होना निश्चित रहे अकृत्रिममें नहीं इस से व्याकरणमें भी धातु आदि कृत्रिम संज्ञाओं से कार्य लेने चाहिये सुवर्ण आदि धातु संज्ञक से नहीं ॥ ८ ॥



अब इस कृत्रिम परिभाषा के होने से दोष आते हैं कि जहाँ कृत्रिमसंज्ञा के लेने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जैसे (कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे) इस सूत्र में जो कृत्रिम कर्मसंज्ञा का ग्रहण होवे तो (देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति) यहाँ कर्त्ता को ईप्सिततम धान्य कर्म के होने से आत्मनेपद होना चाहिये वह यहाँ दृष्ट नहीं है इसलिये यह परिभाषा है ॥

## ९—उभयगतिरिह भवति ॥ अ० ॥ १ । १।२३ ॥

इस व्याकरण शास्त्र में दोनों प्रकार का बोध होता है अर्थात् कहीं कृत्रिम और कहीं अकृत्रिम का भी ग्रहण होता है जैसे (कर्मणि द्वितीया) यहाँ कृत्रिम कर्मसंज्ञा और (कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे) कृषीवला व्यतिलुनन्ते। यहाँ अकृत्रिम क्रियारूप कर्म का ग्रहण है इसलिये (देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति) यहाँ अकृत्रिम कर्म के होने से (आत्मनेपद) नहीं होता तथा (कर्त्तृकरणयोस्तृतीया) देवदत्तेन ग्रामो गम्यते, रथेन गच्छति। यहाँ कृत्रिम करणसंज्ञा और (शब्दवैकल्य-भ्रकण्वमेघेभ्यः करणे) शब्दं करोति शब्दायते। यहाँ अकृत्रिम करणसंज्ञा ली जाती है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ९ ॥

(अव्येता, शयिता) इत्यादि प्रयोगों में इड् और शीङ् धातु को गुणनिषेध होना चाहिये क्योंकि अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में दोनों धातु डित् हैं और अनेकान्तपक्ष में अनुबन्ध पृथक् भी हैं इस में गुणनिषेध कार्य और इगन्त कार्य है ॥

## १०—कार्यमनुभवन् हि कार्यो निमित्तत्वेननाश्रीयते ॥

कार्य करते हुए कार्यो का निमित्तगुण से आश्रय नहीं किया जाता है अर्थात् जिसके आश्रय से कार्य होता हो वही उसका निमित्त कार्यो होता है जैसे डित्व का निमित्त इगन्त नहीं कि जो वह डित्व इगन्त से उत्पन्न हुआ हो जो डित्व का निमित्त इगन्त कार्यो होता तो अवश्य गुण का निषेध हो जाता (स्थण्डिला च्यतिरि०) इस सूत्र में (शीङ्) धातु को गुणपठनज्ञापक से यह परिभाषा निकली है। तथा सन्नन्त यङन्त को कहा द्वित्वजणुं धातु के तुभाग को कहा जाता है क्योंकि सन का निमित्त जणुं धातु है (जणुं नविषति' जणुं नुविषति) इत्यादि ॥ १० ॥

(प्रणिदापयति, प्रणिधापयति) इत्यादि प्रयोगों में (दा, धा) रूप को कहीं हुई घुसंज्ञा पुगन्त (दाप्, धाप्,) को न प्राप्त होने से घुसंज्ञक धातुओं के परे (प्र) उपसर्ग से उत्तर नि के नकार को एत्व नहोना चाहिये इसलिये यह परिभाषा की गई है ॥

११-अर्थवान् आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते\* ॥ अ०

१।१।२० ॥

जो अर्थवान् प्रकृति आदिको टित् कित् और मित् आगम होते हैं वे उन्हीं प्रकृति आदि के स्वरूपभूत होने से उन्हीं के ग्रहणसे ग्रहण किये जाते हैं अर्थात् वे पुक् आदि आगम प्रकृति आदि से पृथक् स्वतन्त्र नहीं समझे जाते इस से (प्रणि-दापयति) आदि में पुगन्त की भी घुसंज्ञा के होजाने से एत्व आदि कार्य होजाते हैं तथा ( सर्वेषाम् ) इत्यादि प्रयोगों में भी सुडादि आगमों के तद्गुणीभूत होने से (साम्)को भलादि सुपं मानकर एकारादेश हो ही जाता है इसी प्रकार लोक में भी किसी प्राणी का कोई अङ्ग अधिक होजावे तो वह उसी के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

अब ( पादः पत् ) इस सूत्र से जो पाद शब्द को (पत्) आदेश कहा है यहाँ तदन्तविधि परिभाषा के आश्रय से द्विपात्, त्रिपात्) शब्दों को भी भसंज्ञा में (पत्) आदेश होता है उस पत् आदेश के अनेकाल् होने से द्विपात् त्रिपात् संपूर्ण के स्थान में प्राप्त है सो जो संपूर्ण के स्थान में होवे तो ( द्विपदः पश्य, त्रिपदः पश्य ) इत्यादि प्रयोग न बन सकें इसलिये यह परिभाषा कही है ॥

१२-निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ॥ अ० ६।४।१३० ॥

षष्ठी विभक्ति से दिखाये हुए स्थानी के स्थान में प्राप्त जो प्रथमानिर्दिष्ट आदेश वह निर्दिश्यमान अर्थात् सूत्रकार वा वार्त्तिकार ने जितने स्थानी का निर्देश किया हो उसी के स्थान में हो अर्थात् तदन्तविधि से जो पूर्वपद वा अन्य उसके सदृश कोई आजावे तो उस सब के स्थान में न हो । इस से द्विपात् शब्दमें पाद-आत्र को पत् आदेश हो जाता है ( द्वि, त्रि) आदि बच जाते हैं इसी से ( द्विपदः पश्य ) इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं ॥ १२ ॥

अब ( चेता, स्तोता ) इन प्रयोगों में (स्थानेऽन्तरतमः) इस सूत्र से प्रमाणकृत आन्तर्य मानें तो ह्रस्व इकार उकारके स्थान में अकार गुण प्राप्त है इससे अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती इसलिये यह परिभाषा की है ॥

\* जो नागेश और भडोजिदीक्षित आदि नवीन लोग इस परिभाषा को (यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ) इस प्रकार की लिखते मानते और व्याख्यान भी करते हैं सो यह पा० महाभाष्य से विरुद्ध है, महाभाष्य में यह परिभाषा ऐसी कहीं नहीं लिखी इसलिये इन लोगों का प्रमाद है ।

१३—यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः ॥ अ०

१ । १ । ५० ॥

जहाँ अनेक प्रकार का अर्थात् स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत और प्रमाणकृत यह चार प्रकार का आन्तर्य प्राप्त हो वहाँ जो स्थान से आन्तर्य है वही बलवान् होता है इस से प्रमाणकृत आन्तर्यके हट जाने से स्थानकृत आन्तर्यके आश्रयसे एकार ओकार गुण होकर (चेता, स्तोता) प्रयोग बन जाते हैं स्थानकृत आदिके विशेष उदाहरण सन्धिविषय में लिख चुके हैं ॥ १३ ॥

( संख्याया अतिशदन्तयाः कन् ) यहाँ ति और श्त् जिस के अन्त में ही उस से कन् प्रत्यय का निषेध किया है । सो ( कतिभिः क्रीतम्, कतिकम् ) यहाँ भी त्यन्त से निषेध होना चाहिये और कन् प्रत्यय तो इष्ट ही है इसलिये यह परिभाषा है ॥

१४—अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥ अ० ५ । १ । २२ ॥

अर्थवान् के ग्रहण होने में अनर्थक शब्दों का ग्रहण नहीं होता इससे अर्थवान् (ति) शब्द के ग्रहण में निरर्थक डतिप्रत्ययान्त के ति का ग्रहण नहीं होता इस से (कतिकम्) यहाँ कन् का निषेध नहीं हुआ । इसी प्रकार प्रशब्द से ऊठ के परे वृद्धि कही है सो ( प्र×ऊठवान्=प्रोठवान् ) यहाँ ऊठ शब्द निरर्थक है इसलिये वृद्धि नहीं होती इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ४ ॥

अब अर्थवद्ग्रहणपरिभाषाके होने से भी ( अमहान् महान् संपन्नो महद्भूत-चन्द्रमाः ) इस प्रयोग में महत् शब्द को आकारादेश होना चाहिये और आत्वके होने से अनिष्टसिद्धि प्राप्त है इसलिये यह परिभाषा है ॥

१५—गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः ॥ अ० ६ । ३ । ४६ ॥

जो गुणों से प्राप्त होवे वह (गौण) और जो गुणों से प्राप्त होवे वह (मुख्य) कहा-ता है उस गौण से प्राप्त और मुख्य दोनों में एककालमें एककार्य प्राप्त होतो मुख्यमें कार्य होवे और गौण में नहीं इससे (महद्भूतचन्द्रमाः) यहाँ आकारादेश नहीं होता क्योंकि यहाँ महत् शब्द अभूततद्भाव अर्थ में मुख्य और चन्द्रमा के साथ समानाधिकरण में गौण विशेषण है इसी प्रकार ( अगौः, गौःसंपद्यत, गोभवत् ) यहाँ च्विप्रत्ययान्त गो शब्द निपातसंज्ञक है परन्तु मुख्यओकारान्त निपात नहीं इसलिये (ओत्)सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ १५ ॥

अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता यह कह चुके हैं सो ( राज्ञा ) राजन् शब्द में कनिन् प्रत्यय का अन् अर्थवान् है इसलिये अन्नन्त के अकार का लोपहोना ठीक है और ( साम्ना ) यहां सामन् शब्द में मनिन् प्रत्यय का मन् अर्थवान् और अन् अनर्थक है इस समाधान के लिये यह परिभाषा है ॥

**१६-अनिनश्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥**

अन्, इन्, अस्, मन् ये जिन सूत्रोंमें ग्रहण हैं वहां अर्थवान् और अनर्थक दोनों से तदन्तविधि होता है । अन् में तो अर्थवान् और अनर्थक दोनों के उदाहरण दे दिये । इन् (दण्डी) यहां इनि प्रत्यय के अर्थवान् इन्नन्त को दीर्घ और (वाग्मी) यहां अर्थवान् ( असुन् ) प्रत्यय के अस् को दीर्घ और ( पीतवाः ) यहां पीत पूर्वक ( वस् ) धातु से क्तिप् हुआ है सो वस् में अनर्थक अस् को दीर्घ होता है । मन् (सुष्टुशर्म यस्याः सा सुशर्मा) यहां तो अर्थवान् मन्नन्त से ङीप् का निषेध है और ( सुप्रथिमा ) यहां इमनिच् प्रत्यय का इमन् अर्थवान् और मन् भाग निरर्थक को भी ङीप् का निषेध होता ही है ॥ १६ ॥

और आगे एक परिभाषा लिखेंगे कि समीपस्थ का विधान वा निषेध होता है इस में यह दोष आता है कि जैसे ( लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ) इस सूत्र की अनुवृत्ति ( उश्च ) इस में आती है । सो जो समीपस्थ के विधि निषेध का नियम है तो आत्मनेपद की अनुवृत्ति प्रानी चाहिये क्योंकि आत्मनेपद की अपेक्षा में ( लिङ्, सिच् ) दूर हैं और ( लिङ्, सिच् ) की अनुवृत्ति के बिना कार्यसिद्धि नहीं हो सकती इसलिये यह वक्ष्यमाण परिभाषा है ॥

**१७-एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥**

जो एक सूत्र में निर्देश किये पद हैं उन की अन्य सूत्रों में एकसाथ प्रवृत्ति और एकसाथ निवृत्ति हो जाती है इस से ( उश्च ) सूत्र में लिङ् सिच् की भी अनुवृत्ति आ जाती है । इसी प्रकार अन्यत्र बहुत स्थलों के सूत्र वार्तिकों में यह रीति दीख पड़ती है कि जैसे कहीं दो पदों की अनुवृत्ति आती है उन में से जब एक को छोड़ना होता है तब द्वितीय पद को फिर के पढ़ते हैं तो यही प्रयोजन है कि उन दोनों पदों की अनुवृत्ति एक साथ ही चलती है उस में से एक को छोड़ के दूसरे पद की अनुवृत्ति नहीं जा सकती ॥ १७ ॥

अब इस पूर्व परिभाषाके होने में यह दोष है कि ( अलुगुत्तरपदे ) इस सब सूत्र का अधिकार चलना है उस में अलुक् अधिकार तो आनङ् विधान से पूर्व २ ही रहता है फिर उत्तरपदाधिकार पादपर्यन्त क्यों जावे इसलिये यह परिभाषा है ॥

१८—एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशानुवृत्तिर्भवति ॥ अ०

४।१।२।७ ॥

एक सूत्र में पृथक् पठित पदों में से भी कहीं एकदेश की अनुवृत्ति होती है इससे उत्तरपदाधिकार का पादपर्यन्त जाना सिद्ध हो गया । तथा ( दामहाय-नान्ताच्च ) यहां पूर्वसूत्र से संख्या की अनुवृत्ति आती है और अव्यय की नहीं और ( पक्षातिः ) इस सूत्र में पूर्व सूत्र से मूलशब्द की अनुवृत्ति आ जाती है पाक की नहीं आती इत्यादि ॥ १८ ॥

( अणुदित्त्ववर्णस्य चाप्रत्ययः ) यहां प्रत्ययग्रहण से सवर्ण का निषेध किया है इस का यही प्रयोजन है कि (सनागंसभिच्च उः) इ आदि में उ आदिप्रत्यय अपने सवर्णादीर्घ आदि के ग्राहक न हों सो जब स्त्री प्रत्यय को छोड़ के अन्यदीर्घ प्रत्यय से किसी अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती तो दीर्घप्रत्यय नहीं होसकता इसलिये प्रत्ययग्रहण के व्यर्थ होने से यह ज्ञापक होता है कि इस सूत्र में यौगिक प्रत्यय का निषेध है ( प्रतीयते विधीयते भाव्यतेऽनेनाऽसी प्रत्ययः, न प्रत्ययोऽप्रत्ययः ) इसी व्याख्यान से यह परिभाषा निकली है ॥

१९—भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम् ॥ अ० १।१।६९ ॥

जो विधान किया जाता है उससे सवर्णों का ग्रहण नहीं होता जैसे ( त्यदा-दीनामः ) यहां अकार का विधान किया है उस से दीर्घ सवर्णों का ग्रहण नहीं होता और ( ज्यादादीयसः ) यहां इयसुन् प्रत्ययके इकार को आकारादेश न कहते किन्तु अकार कहते तो सवर्णग्रहण से दीर्घ हो ही जाता फिर निश्चित हुआ कि यहां भी पूर्ववत् भाव्यमानअकार सवर्णग्राही नहीं हो सकता इसलिये दीर्घ कहा इत्यादि ॥ ६ ॥

यदि भाव्यमान से सवर्णों का ग्रहण नहीं होता तो ( दिव उत्, ऋत उत् ) इन सूत्रों में भाव्यमान उकार को तपर करना व्यर्थ है । क्योंकि तपर करने का यही प्रयोजन है कि इकार तत्काल का ग्राहक हो अपने सवर्णों का ग्रहण न करे फिर ( अणुदित्० ) परिभाषा से सवर्णग्रहण तो प्राप्त ही नहीं उकार तपरकों पढ़ा इसलिये यह परिभाषा है ॥

२०—भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम् ॥ अ० ६ ।

१ । १८५ ॥

भाव्यमान उकार से सवर्णों का ग्रहण होता है इस से पूर्वोक्त उकार में तपर सार्थक हुआ और अन्यत्र फल यह है कि (अदसोऽसेर्दादुदोमः) यहां भाव्यमान ह्रस्व उकार सवर्णों का आही होता है तभी (अमूभ्याम्) आदि में दीर्घ उकारादेश हुआ ॥ २० ॥

( गवेहितं, गोहितम् ) यहां समास में चतुर्थ्येकवचन प्रत्यय का लक् किये पीछे (प्रत्ययलोपे०) सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य मानें तो (गो) शब्द के ओकार को अवादेश प्राप्त है इसलिये यह परिभाषा है ॥

२१—वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् ॥

वर्ण के आश्रय से जो कार्य कर्त्तव्य हो तो प्रत्ययलक्षण न हो अर्थात् उस प्रत्यय को मान के वह कार्य न होवे इसलिये अच् को मान के अवादेश नहीं होता इत्यादि ॥ २१ ॥

(अतः क्कमिकंस०) इस सूत्र में कंस शब्द का पाठ व्यर्थ है क्योंकि उणादि में (कमेः सः) इस सूत्र से कम् धातु का कंस शब्द बना है कम् धातु के सामान्य प्रयोगों के ग्रहण में कंस शब्द का भी ग्रहण होजाता फिर कंस शब्द क्यों पढ़ा इसलिये यह परिभाषा है ॥

२२—उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ॥ अ० १।१।६१ ॥

उणादि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न अर्थात् उन का सर्वत्र प्रकृति, प्रत्यय, कारक आदि से यौगिक यथार्थ अर्थ नहीं लगता अर्थात् उणादि शब्द बहुधा रुढ़ि होते हैं इसलिये (अतः क्कमिकंस०) सूत्र में कंस ग्रहण सार्थक है। इसी प्रकार (प्रत्ययस्य लुक्०) इस सूत्र से (परशव्य) शब्द का लुक् कहा हुआ उकार प्रत्यय होने से भी अव्युत्पन्नपक्ष मान के परशु शब्द के उकार का लुक् नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ २२ ॥

( देवदत्तत्रिकीर्षति ) इत्यादि प्रयोगों में देवदत्त आदि शब्दों को सन्नत के धातुसंज्ञा आदि कार्य प्राप्त हैं सो क्यों नहीं होते। जो देवदत्त के सहित सब वाक्य की धातुसंज्ञा होजावे तो (सुपो धातु०) इस सूत्र से जो देवदत्त के आगे विभक्ति है उस का लुक् प्राप्त होवे इसलिये यह परिभाषा है ॥

### २३-प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स प्रत्ययो विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च- ग्रहणं भवति ॥ अ० १। ४। १३ ॥

जिस से जो प्रत्यय विधान किया हो वह जिस के आदि वा अन्त में हो उसी का ग्रहण हो और जो उस वाक्य में प्रत्ययविधि से पद पृथक् हो उस का सामान्य कार्य में ग्रहण न हो । इस से सन्नन्तको धातुसंज्ञा में देवदत्त का ग्रहण न हुआ तो विभक्ति का लुक् भी बच गया इसी प्रकार (देवदत्तो गार्ग्यः) यहां समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हो तो मध्य विभक्तिका लुक् हो जावे तथा (ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः) इस समुदाय की समाससंज्ञा हो तो मध्य विभक्तियों का लुक् प्राप्त होवे इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं ॥ २३ ॥

(येन विधिस्तदन्तस्य) इस परिभाषा सूत्र से (दृषत्तीर्णा, परिषत्तीर्णा) इत्यादि प्रयोगों में (रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः) इस सूत्र से दृषद् परिषद् दकारान्त शब्दों से परे धातु के तकारको अनिष्ट नकारादेश प्राप्त है इसलिये यह परिभाषा है ॥

### २४-प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ॥ अ० १। १। ७२ ॥

जिन सूत्रों में प्रत्ययग्रहण से कार्य होते हैं वहां पञ्चम्यन्त से परे वह कार्य न हो अर्थात् पञ्चम्यन्तसे परे प्रत्ययग्रहण में तदन्तविधि न होवे इस से (परिषत्तीर्णा) आदि में धातु के तकार को नकार आदेश नहीं होता इत्यादि ॥ २४ ॥ कुमारीगीरितरा । इत्यादि प्रयोगों में तदन्तविधि माने तो कुमारी शब्द को भी ह्रस्व प्राप्त है इसलिये यह परिभाषा है ॥

### २५-उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम् ॥ अ० ६। ३। ५० ॥

(अलुगुत्तरपदे) जो षष्ठाऽध्याय के तृतीय पाद में प्रत्ययनिमित्त कार्य है वहां स्वरूप का ग्रहण होना चाहिये अर्थात् तदन्तविधि न हो इस से (कुमारीगीरितरा) यहां कुमारी शब्द को ह्रस्व नहीं होता और रूपग्रहण से यह भी प्रयोजन है कि (हृदयस्य ह्रस्वेख्यदण्लासेषु) जो इस सूत्र में (२३)वीं परिभाषा के अनुकूल (यत्) और (अण्) प्रत्यय जिस से विहित हैं उस उत्तरपद के परे पूर्व को कार्य होजावे सो इष्ट नहीं है । क्योंकि जो तदन्तविधि होता केवल हृदय शब्द से (हृदयम्, हार्दम्) प्रयोग नहीं बने इस में लेखग्रहण ज्ञापक है कि अणन्त उत्तरपद का ग्रहण होता लेख शब्द (अण्) प्रत्ययान्त पृथग् ग्रहण व्यर्थ है । इस से यह निश्चित हुआ कि इस उत्तरपदाधिकार के प्रत्ययाश्रितकार्यविधायक सूत्रों में तदन्तविधि नहीं होती ॥ २५ ॥

• (प्रत्ययग्रहणे०) इस २३ वी परिभाषासे ( ध्यङ्: संप्रसारणं पुत्रपत्न्यास्तत्पुरुषे ) यहां तत्पुरुष में (पुत्र ) और (पति) उत्तरपदों के परे ( ध्यङ् )को संप्रसारण कहा है तो ( ध्यङ् )का जो आदि वा ध्यङन्त को कार्य होगा । इस से (कारौषगन्ध्यायाः पुत्रः कारौषगन्धीपुत्रः, कारौषगन्धीपतिः, वाराहीपुत्रः, वाराहीपतिः ) इत्यादि प्रयोग तो सिद्ध हो जावेंगे परन्तु (परमकारौषगन्धीपुत्रः, परमकारौषगन्धीपतिः) इत्यादि प्रयोग नहीं सिद्ध होंगे क्योंकि जिस ( कारौषगन्धि ) शब्द से ( ध्यङ् ) प्रत्यय विहित है तो वही जिस के आदि में हो ऐसे ( ध्यङ् ) का ग्रहण हो सकता है और परम के सहित ग्रहण नहीं हो सकता इसलिये यह परिभाषा है ॥

## २६—स्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन ॥ अ० ६।१।१३ ॥

( तदादिग्रहणपरिभाषा ) स्त्रीप्रत्यय और उपसर्जन को छोड़ के प्रवृत्त होवे इस से सामान्य स्त्रीप्रत्यय ( परमकारौषगन्धीपुत्रः ) इत्यादि में तदादि ग्रहण के दोष से संप्रसारण का निषेध नहीं होता और (कारौषगन्ध्यमतिक्रान्तेऽतिकारीषगन्ध्यः, अतिकारीषगन्ध्यस्य पुत्रः अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः) यहां ध्यङन्त स्त्रीप्रत्यय उपसर्जन अर्थात् स्वार्थ में अप्रधान है इसलिये संप्रसारण नहीं होता इत्यादि ॥२६॥

(सुप्तिङन्तं पदम् ) इस सूत्र में अन्तग्रहण व्यर्थ है क्योंकि जो (सुप्तिङन्तं पदम्) ऐसा सूत्र करते तो तदन्तविधिपरिभाषा से अन्त की उपलब्धि से (सुबन्त, तिङन्त) की पदसंज्ञा हो ही जाती फिर अन्तग्रहण व्यर्थ हो कर इस परिभाषा का ज्ञापक है ॥

## २७—संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति ॥ अ० १।

४।१४ ॥

प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती। इस से अन्तग्रहण सार्थक होना तो स्वार्थ में चरितार्थ है और अन्यत्र फल यह है कि ( तरममपौ घः ) यहां ( तरप् तमप् ) प्रत्ययान्त की (घ) संज्ञा नहीं होती जो तरप् प्रत्ययान्त की (घ) संज्ञा होजावे तो ( कुमारीगौरितरा) यहां घसंज्ञक के परे कुमारी शब्द को ह्रस्व हो जावे तो इस परिभाषा से नहीं होता । और (कृतद्धितसमासाश्च) यहां कृतद्धित प्रत्ययों में अन्तग्रहण नहीं किया और प्रातिपदिकसंज्ञा के होने से तदन्तविधि भी नहीं हो सकती इसलिये कृतद्धित में अर्थवान् की अनुवृत्ति करने से कृदन्त और तद्धितान्त ही अर्थवान् होते हैं केवल ( कृत् , तद्धित ) नहीं क्योंकि ( न केवला प्रकृतिःप्रयोक्तव्या न च केवलप्रत्ययः ) इस महाभाष्य के



प्रमाण से प्रत्ययान्त ही अर्थवान् होता है । और ( बहुच् ) प्रत्यय प्रातिपदिक से नहीं होता किन्तु सुबन्त से पूर्व बहुच् कहा है बहुच् प्रत्यय के सहित जो समुदाय है वहाँ प्रातिपदिकसंज्ञा होने की कुछ आवश्यकता नहीं है जैसे ( बहुपटवः ) यहाँ बहुच् के होने से पहिले ही अथवा पटु शब्द की प्रातिपदिक-संज्ञा तो सिद्ध ही है । फिर बहुच् प्रत्यय की विवक्षा में जिस विभक्ति और वचन का प्रयोग करना हो उस को रख के बहुच् प्रत्यय लाना चाहिये जैसे (पटु, जस्) इस सुबन्त के पूर्व बहुच् आकर (बहुपटवः) प्रयोग सिद्ध हो गया । इसी प्रकार अन्य प्रयोगों में जान लेना चाहिये और (सर्वकः) (विश्वकः) इत्यादि में जो अकच् प्रत्यय मध्य में होता है उस के आगे परिभाषा लिखी है कि (तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते) (सर्व) प्रातिपदिक के एक देश के मध्य में आया अकच् उसी प्रातिपदिक के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है ॥ २७ ॥

(२३) वी परिभाषा के होने में ये भी दोष हैं कि (अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्) यहाँ क्त प्रत्ययान्तस्थित शब्द के साथ सम्यन्त का समास कहा है सो गतिसंज्ञक अव शब्द के सहित सम्यन्त और कर्त्तृकारकवाची नकुल शब्द के सहित क्तान्त क्तदन्त स्थित शब्द है इस कारण समास नहीं प्राप्त है इसलिये यह परिभाषा है ।

२८-कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणं भवति ॥ अ०

१ । ४ । १३ ॥

जहाँ क्तप्रत्यय के ग्रहण से कार्य हो वहाँ उस क्तदन्त के पूर्व गतिसंज्ञक और कारक हो तो भी वह कार्य हो जावे । इस से गतिसंज्ञक अव और कारक नकुल के होने से भी समास हो जाता है, तथा सांकूटिनम् यहाँ ( इनुण् ) क्तप्रत्ययान्त से ( अण् ) तद्धित होता है सो जो ( कूटिन् ) शब्द से करे तो उसी के आदि को वृद्धि होवे इस परिभाषा से गतिसंज्ञक ( सम् ) के सहितके (अण्) के होने से ( सम् ) के सकार को वृद्धि होती है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ( गतिर-नन्तरः ) इस सूत्र में (अनन्तर) ग्रहण इस परिभाषा के होने में ज्ञापक है ॥

(येन विधिस्तदन्तस्य) इस परिभाषासूत्र में सामान्य करके तदन्तविधिकही है विशेषविषय में उस का अपवादरूप वक्ष्यमाण परिभाषा है ॥

२९--पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

उत्तरपदाधिकार अर्थात् षष्ठाध्याय के तृतीयपाद में और अङ्गाधिकार में जिस का कार्यविधान हो वा जिस के आश्रय हो उस का और वह जिस के अन्त में

हो उन दोनों का ग्रहण होता है जैसे ( इष्टकेषोकामालानां चित्तूलभारिषु ) इस सूत्रमें ( इष्टकचितं चिन्वीत ) यहाँ उसी इष्टकाशब्द को ह्रस्व और ( पक्केष्टकचितं चिन्वीत ) यहाँ तदन्त को भी ह्रस्व होता है ( इषीकतूलेन, मुञ्जेषीकतूलेन, मालभारिणीकन्या, उत्पलमालभारिणीकन्या ) यहाँ भी इषीका और माला शब्द को दोनों प्रकार ह्रस्व हुआ है । अङ्गाधिकारमें ( सान्तमहतः संयोगस्य ) महान् यहाँ उसी महत् शब्द की उपधा को दीर्घ और ( परममहान् ) यहाँ तदन्त को भी होता है इत्यादि अनेक उदाहरण महाभाष्य में लिखे हैं ॥ २८ ॥

( एकाचो द्वे प्रथमस्य ) यहाँ अनेकाच् धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होता है जैसे ( जजागार ) यहाँ जा भाग को द्वित्व हुआ है । जोकेवल एकाच् धातु है उसमें प्रथम एकाच् अवयव कहां है जिस को द्वित्व हो जैसे ( पपाच, इयाज ) इत्यादि । तथा ( एकाच् ) शब्द में भी बहुव्रीहि समास है कि एक अच् जिस मेंही अर्थात् अन्य एक वा अधिक हल् हीं वह ( एकाच् ) अवयव कहाता है। सो जहां केवल एकही अच् धातु है जैसे ( इयाय, आर ) यहाँ ( इ, ऋ ) धातुओं को द्वित्व कैसे हो सके इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३०—व्यपदेशिवदेकस्मिन् ॥ अ० १ । १ । २१ ॥

सत् निमित्त के होने से मुख्य जिस का व्यपदेश (व्यवहार) हो वह व्यपदेशी कहाता है और एक वह है जिसके व्यवहार का कोई सहायी कारण नहो उस एक में व्यपदेशीके तुल्य कार्य होता है इस से ( एकाच् ) धातु ( पपाच ) आदि में द्वित्व और केवल एक ही अच् धातु ( इयाय, आर ) आदि में भी द्विवचन हो जाता है । क्योंकि एकाच् और एकही अच् धातु की अपेक्षा में अनेकाच् व्यपदेशी है तद्वत् कार्य मानने से सर्वत्र द्वित्व हो जाता है ( आदेश प्रत्यययोः ) इस सूत्र में प्रत्यय के अवयव शकार को मूर्धन्य कहा है सो ( करिष्यति ) आदि में तो होही जाता है । और ( स देवान् यक्षत् ) यहाँ यक्षत् क्रिया में केवल सिप् विवरण का सकारमात्र प्रत्यय है उसको ( व्यपदेशिवद्भाव ) मानके मूर्धन्य होता है । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं । लोक में भी यह व्यवहार होता है कि किसी के बहुत पुत्र हैं वहां तो ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ का व्यवहार बनता है और जिस का एकही पुत्र हैतो वहां उसी में ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ व्यवहार होता है ॥ ३० ॥

तद्धित में जैसे नडादि, गर्गादि और शिवादि इत्यादि प्रातिपदिकोंसे अपत्य आदि अर्थों में अण् आदि प्रत्यय कहे हैं सो उत्तमनड परमगर्ग और महाशिव आदि प्रातिपदिकों से तदन्तविधि में क्यों नहीं होते इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३१-ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिः प्रतिषिध्यते ॥

अ० ५ । २ । ८७ ॥

प्रत्यय का ग्रहण करने वाले प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होता इसलिये (उत्तमनङ्) और (परमगर्ग) आदि प्रातिपदिकों से (फक्) और (यष्) आदि प्रत्यय नहीं होते और इस परिभाषा के निकलने का ज्ञापक (पूर्वादिनिः, सपूर्वाच्च) ये दोनों सूत्र हैं क्योंकि जो पूर्व शब्द से विधान किया इनि प्रत्यय तदन्त से भी हो जाता तो द्वितीय सूत्र व्यर्थ हो जाता फिर व्यर्थ होकर यह ज्ञापक होता है कि यहां तदन्तविधि नहीं होता ॥ ३१ ॥

सूत्रान्त प्रातिपदिकों से (ठक्) और दशान्त आदि प्रातिपदिकों से (ङ्) आदि प्रत्यय कहे हैं सो (३०) वीं परिभाषा से (व्यपदेशिवद्भाव) मान कर केवल सूत्र और दश आदि से (ठक्) तथा (ङ्) आदि प्रत्यय क्यों नहीं हो जाते इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३२-व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति प्रातिपदिकाधिकार को छोड़ के होती है । इसलिये केवल सूत्रआदि शब्दों से ठक् आदि प्रत्यय नहीं होते और इस परिभाषा का ज्ञापक भी (पूर्वादिनिः, सपूर्वाच्च) ये दोनों सूत्र हैं क्योंकि जो यहां व्यपदेशिवद्भाव होता तो (पूर्वान्तादिनिः) ऐसा एक सूत्र कर देते तो सब काम सिद्ध हो जाता फिर पृथक् दो सूत्र करनेसे ज्ञात हुआ कि यहां व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता ॥ ३२ ॥

(अचि अनुधातु०) यहां (श्रियौ, भ्रुवौ) उदाहरणों में तो केवल (अच्) के परे (इयङ्, उवङ्) होजाते हैं और (श्रियः, भ्रुवः) यहां (इयङ्, उवङ्) न होने चाहिये क्योंकि यहां केवल (अच्) परे नहीं है इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३३-यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे ॥ अ० १ । १ । ७० ॥

जिस प्रत्याहाररूप पर विगेषण के आश्रय से विधि हो वह जिस के आदि में हो उस के परे वह कार्य होना चाहिये इस से अजादि प्रत्यय के परे (इयङ्, उवङ्) होते हैं तो (श्रियः, भ्रुवः) यहां अजादि [जस्] में भी दोष नहीं आता । तथा [अवश्यलाभ्यम्, अवश्यपाथ्यम्] इत्यादि में [वान्तो यि प्रत्यये] सूत्र से यकारादि प्रत्यय के परे वान्तादेश हो जाता है (इको भल्) यहां भ्लादिसन् लिया जाता है । इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं ॥ ३३ ॥

• (तिष्यपुनर्वसोर्नक्षत्रम्हृद्बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ) इस सूत्र में बहुवचन-ग्रहण न करते तो भी प्रयोजन सिद्ध हो जाता। क्योंकि एक (तिष्य) और दो (पुनर्वसु) इन तीन के होने से बहुवचन तो प्राप्त ही था फिर द्विवचन के कहने से उसी बहुवचन की प्राप्ति में द्विवचन हो जाता इस प्रकार बहुवचनग्रहण व्यर्थ हो कर ज्ञापक है कि (तिष्य, पुनर्वसु) में कहीं एकवचन भी होता है वहां एकवचन को द्विवचन न हो इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३४—सर्वो हन्द्ो विभाषैकवद्भवति ॥ अ० १ । २ । ६३ ॥

दो वा अधिक किन्हीं शब्दों का हन्द्समास हो वह सब विकल्प करके एकवचन होता है। इस से तिष्य पुनर्वसु के एकवचनपक्ष में द्विवचन हो इसलिये बहुवचनस्थानी का ग्रहण है। तथा इसी परिभाषा से (घटपटम्, घटपटी, ईपलोमकूलम्, माथोत्तरपदव्यनुपदम्) इत्यादि में भी एकवचन सिद्ध हो जाता है। समाहार हन्द्सर्वत्र एक ही वचन होता है। और यह परिभाषा इतरेतर-हन्द्समासमेंलगतीहै इसीसे इसके उदाहरण भीसब इतरेतरहन्द् के दियेहैं॥३४॥

(व्यत्ययोबहुलम्) इस से स्य आदि विकरणां का व्यत्यय होना सूत्रार्थ है। तथा (षष्ठीयुक्तशब्दसि वा) इस सूत्र से भी षष्ठीयुक्त पति शब्द की घिसंज्ञा का वेद में विकल्प है इन दोनों में भाष्यकारने विभाग करके यह परिभाषा सिद्ध की है ॥

### ३५—वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति ॥ अ० १ । ४ । ९ ॥

वेद में सब कार्य विकल्प करके होते हैं जैसे (दक्षिणायाम्) इस सम्यन्त की प्राप्ति में (दक्षिणायाः) ऐसा प्रयोग होता है। इत्यादि अनेकप्रयोजन हैं ॥३५॥

किसी विद्यार्थी ने (अग्नी) ऐसा द्विवचनान्त शब्द उच्चारण किया जो उसका कोई अनुकरण करे कि (अग्नी इत्याह) तो यहाँ अनुकरण में साक्षात् द्विवचन के न होने से जो प्रगृह्यसंज्ञा न होवेतो इकार के साथ संधि होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३६—प्रकृतिवदनुकरणं भवति ॥ अ० ८ । २ । ४६ ॥

जो अनुकरण किया जाता है वह प्रकृति के तुल्य होता है इस से (अग्नी) द्विवचनप्रकृति के तुल्य अनुकरणको मानके प्रगृह्यसंज्ञा होनेसे संधि नहीं होती। और एकवचन बहुवचन में तो संधि होता है(कुमार्य लृतक इत्याह)यहाँ (ऋतक) शब्द के अनुकरण (लृतक) के परे भी यणादेश होता है (द्विः पञ्चन्त्वित्याह) यहाँ

( द्विः पचन्तु ) शब्द के अनुकरण में भी अतिङ्से परे तिङ् पद विघात होता है । ( अर्थवदधातुरप्रत्ययः० ) इस सूत्र में धातु का पर्युदास प्रतिषेध मानें कि धातुसे अन्य अर्थवान् की प्रातिपदिकसंज्ञा हो इस से च्ति आदि धातुओं के अनुकरण को प्रकृतिवत् होने से स्वाश्रय कार्य मान कर प्रातिपदिकसंज्ञा होता है फिर पंचमी विभक्ति के एकवचन में च्तिधातु को ( इयङ् ) आदेश नहीं प्राप्त है इसलिये धातु के अनुकरण को प्रकृतिवत् मान के ( इयङ् ) आदेश भी होता है इस से ( च्चियो दीर्घात्, परीभुषोऽवज्ञाने, नेर्विशः ) इत्यादि सब निर्देश ठीक बन जाते हैं ॥ ३६ ॥

( भवतु, पचतु ) इत्यादि की पदसंज्ञा न होनी चाहिये क्योंकि तिङन्त की पदसंज्ञा कही है यहां तो तिप् के इकार को उकार हो जाने से तिङ् नहीं रहा इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३७—एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति ॥ अ० ४ । १ । ८३ ॥

जिस किसी का एक अवयव विपरीत हो जावे तो वह अन्य नहीं हो जाता किन्तु वही बना रहता है । इससे इकार के स्थान में उकार हो जाने से भी पद-संज्ञा हो जाती है ( प्राग्दीव्यतोऽण् ) इस सूत्र से ( दीव्यत् ) शब्दपर्यन्त ( अण् ) प्रत्यय का अधिकार करते हैं और दीव्यत्शब्द कहीं नहीं है किन्तु ( दीव्यति ) शब्द है इस का एकदेश इकार के जाने से ( दीव्यत् ) रह जाता है इसी ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है । लोक में भी किसी कुत्ते का कान वा पूंछ काट लिया जावे तो उस को घोड़ा वा गधा नहीं कहते किन्तु कुत्ता ही कहते हैं इत्यादि अनेक प्रयोग हैं ॥ ३७ ॥

( स्योनः ) यहां ( सिवु ) धातु से उणादि ( न ) प्रत्यय के परे वकार को ( ऊठ् ) होकर वकार को स्थानिवत् मानने से धातु के इकार को ( लघूपधगुण ) और उसी इकार को ( यणादेश ) दोनों प्राप्त हैं । इस में गुण पर और यणादेश ( अन्तरङ्ग ) है अब दोनों में से कौनसा कार्य होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ३८—पूर्वपरनित्यान्तरङ्गाऽपवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ॥

पूर्व से पर, पर से नित्य, नित्यसे अन्तरङ्ग और अन्तरङ्ग से अपवाद ये सब पूर्व २ से उत्तर २ बलवान् होते हैं । यह परिभाषा महाभाष्य के अभिप्रायानुकूल है अर्थात् इसी प्रकार की कहीं नहीं लिखी । पूर्व से पर बलवान् होना यह विषय ( विप्रतिषेध परं कार्यम् ) इसी सूत्र का है जैसे ( अत्रि ) इस शब्द से

अपत्याधिकार में ऋषिवाची होने से (अण्) प्राप्त और “इकारान्तठ्यच्” होने से ढक् प्राप्त है सो पूर्व (अण्) को बाध के परविहित (ढक्) होता है जैसे (अत्रे-पत्यम्, अत्रेयः) इत्यादि । भू धातु से लिट् लकार के णल् प्रत्ययके परे (भू×अ) इस अवस्था में द्वित्व, यणादेश, उवङ्, गुण, वृद्धि और वुक् आगम ये सब प्राप्त हैं ( द्विवचन ) नित्य होने से पर यणादेश का बाधक है ( उवङ् ) अन्तरङ्ग होने से नित्य द्वित्व का भी बाधक है और ( उवङ् ) का अपवाद (गुण) गुण का अपवाद ( वृद्धि ) और इन दोनों का अपवाद निरवकाश होने से ( वुक् ) हो जाता है । इसी प्रकार अन्य भी बहुत प्रयोगों में यह परिभाषा लगती है ( दुद्युषति ) यहाँ सन् प्रत्यय के परे ( दिव् ) धातु के वकार को जठ् किये पीछे द्विवचन और यणादेश दोनों प्राप्त हैं नित्य होने से द्विवचन होना चाहिये फिर नित्य द्विवचन से भी अन्तरङ्ग होने से यणादेश प्रथम हो जाता है । इत्यादि ॥ ३८ ॥

( ईजतुः ) यहाँ यज् धातु से ( अतुस् ) प्रत्यय के परे द्वित्व को बाध के परत्व से (संप्रसारण) होता है फिर द्वित्व होना चाहिये वा नहीं इसलिये यह परिभाषा है ॥

३९—पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् ॥ अ० १ । ४ । २ ॥

परत्व से वा अन्य किसी प्रकार से प्रथम बाधक कार्य हो जावे । फिर जो उत्सर्ग कार्यकी प्राप्ति हो तो उत्सर्ग भी हो जावे । इस से (यज्) धातु को संप्रसारण किये पीछे भी द्वित्व होजाता है । इसी प्रकार परत्व से (हि) के स्थान में तातङ् आदेश होने से फिर हि को धि न होना चाहिये सो भी ( तातङ् ) के निषेध-पक्ष में ( हि ) को ( धि ) होकर ( भिन्धि ) आदि प्रयोग बन जाते हैं इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ३९ ॥

लोक में यह रीति है कि तुल्य अधिकारी दो स्वामियों का एक भृत्य होता के तो वह आगे पीछे दोनों के कार्य किया करता है परन्तु जो उस भृत्य को दोनों स्वामी अनेक दिशाओं में एक काल में कार्य करने के लिये आज्ञा दें तो उस समय जो वह किसी का विरोधी न हुआ चाहे तो दोनों के कार्य न करे क्योंकि एक को एककाल में दोदिशाओं में जाके दो कार्य करना असम्भव है फिर जिस का पीछे करेगा वही अपसन्न होगा , इसी प्रकार सूत्रों में भी दोमें जो बलवान् होगा वह प्रथम हो जावे गा और जो दोनों तुल्यबल वाले होंगे तो एक दूसरे को हटाने से लोक के तुल्य एक भी कार्य न होगा । जैसे स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान ( त्रि, चतुर ) शब्द को सामान्य विभक्तियों में ( तिस्र, चतस्र ) आदेश कहे हैं और ( त्रि ) शब्द को ( त्राम् ) विभक्ति के परे ( त्रय ) आदेश भी कहा है

फिर ( विप्रतिषेधे परं कार्यम् ) इस सूत्र से पर विप्रतिषेध मान के प्रथम ( तिष्ठ ) आदेश हो गया । फिर उस को स्थानिवत् मान के ( त्रय ) आदेश भी होना चाहिये तो लोकवत् अनिष्टप्रसङ्ग आजावे इसलिये यह परिभाषा है ।

४०-सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव ॥ अ०

१ । ४ । २ ॥

एककाल में जब दो कार्यों की प्राप्ति होती है तब विप्रतिषेध में पर का कार्य होकर फिर दूसरे पूर्व सूत्र का कार्य प्रवृत्त नहीं हो सकता क्योंकि जो बाधक हुआ सो हुआ इस से फिर स्थानिवत् मान के ( त्रय ) आदेश नहीं होता इस कारण [ तिष्ठणाम् ] इत्यादि प्रयोग शुद्ध ठीक बन जाते हैं । और जो दूसरा कार्य भी पश्चात् प्राप्त हो और प्रथम हुआ कार्य कुछ न बिगड़े तो [ ३६ ] वीं परिभाषा के अनुकूल वह भी कार्य हो जावे गा ॥ ४० ॥

अब यह विचार भी कर्त्तव्य है कि धातुओं से परे जो लकारों के स्थान में तिप् आदि परस्मैपद और आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं वे पहिले ही किंवा विकरण ही आत्मनेपदादि के करनेसे प्रथम और पीछे भी विकरणों की प्राप्ति है इस से वे नित्य हैं । और आत्मनेपद परस्मैपद विधायक प्रकरण से परे भी विकरण ही हैं और विकरण किये पीछे आत्मनेपद नियम की प्राप्ति नहीं क्योंकि ( अनुदात्तङित० ) यह पञ्चमीनिर्दिष्ट कार्य व्यवधानरहित उत्तर को होना चाहिये विकरणों के व्यवधान से फिर आत्मनेपद नहीं पाता और जो आत्मनेपद नियम को अनवकाश माने सो भी नहीं क्योंकि अदादि और जुहोत्यादि-गण में जहां विकरण विद्यमान नहीं रहते वहां और ( लिङ्, लिट् ) लकारों में ( आत्मनेपद, परस्मैपद ) को अवकाश ही है फिर ( एधते, स्पृहते ) आदि में आत्मनेपद नहीं हो सकता इसलिये यह परिभाषा है ॥

४१-विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् ॥ अ० १ । ४ । १२ ॥

विकरण विधि से आत्मनेपद परस्मै पद नियमविधान बलवान् है क्योंकि जो आत्मनेपद आदि के होने से पहिले विकरण ही होते हैं तो ( आत्मनेपदेऽबन्धन्यतरस्याम्, पुषाद्विद्युताद्यलृटितः परस्मैपदेषु ) इन विकरणविधायकसूत्रों में आत्मनेपद के आश्रय से विकरणविधान क्यों किया इससे यह सापक है कि विकरण-विधि से पहिले ही आत्मनेपद परस्मैपद नियम कार्य होते हैं । इस से ( एधते, स्पृहते ) आदि में आत्मनेपद सिद्ध हो गया इत्यादि प्रयोजन इस के हैं ॥ ४१ ॥

• ( न्यविशत, व्यक्रीणीत ) यहाँ (नि, वि) उपसर्गों से परे ( विष्ण ) और (क्री) धातु से आत्मनेपद होता है सो विकरण आत्मनेपद और अट् आगम तीनों कार्य एक साथ प्राप्त हैं इन में से आत्मनेपद सब से पहिले होकर अब विकरण करने के पहिले और पीछे भी (अट्) प्राप्त है इस से अट् नित्य हुआ और विकरण भी अट् करने से पहिले तथा पीछे भी प्राप्त है तो विकरण भी नित्य हुए । जब दोनों नित्य हुए तो परत्वसे अट् प्राप्त है । और अङ्ग कार्य अट्से विकरणों का होना प्रथम दृष्ट है क्योंकि विकरण के आजाने पर सब की ( अङ्ग ) संज्ञा ही और अङ्गसंज्ञा के पश्चात् अट् होवे इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ४२-शब्दान्तरस्य च प्रान्तुवन्विधिरनित्यो भवति॥अ० १।३।६०॥

जो दो कार्य एकसाथ प्राप्त हों और वे दोनों नित्य ठहरते हों तो उन में एकविधि के होने से पहिले जिस शब्द को दूसरा विधि प्राप्त है और पहिले कार्य के होने पश्चात् वह विधि दूसरे शब्द को प्राप्त हो तो वह अनित्य होता है यहाँ ( अट् ) आगम पहिले तो केवल ( विष्ण ) को प्राप्त है और विकरण किये पीछे विकरणसहित सब की अंगसंज्ञा होने से सब को प्राप्त है इसलिये अट् अनित्य हुआ । फिर प्रथम विकरण हो कर पुनः प्रसंग मानने से ( अट् ) हो जाता है । इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ४२ ॥

[ नृकुट्या भवः नाकुटः, मृपतेरपत्यं नार्पत्यः ] यहाँ जो (नृ) शब्दको वृद्धि होती है उसी वृद्धिरूप आकार का सहचारी रेफ रहता है उस रेफ की खर प्रत्याहार के परे [खरवसानयोर्विसर्जनीयः] इस सूत्र से विसर्जनीय होने चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ४३-असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ अ० ८।३।१५॥

### ४४-असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे ॥ अ० ६।४।१३२॥

इन में से पहिली परिभाषा बहुधा व्यवहारकालमें प्रवृत्त होती और दूसरी बहुधा व्याकरणादिशास्त्रों में लगती है । बहिरंग कार्य करने में अन्तरंग कार्य असिद्ध हो जाता है । बहिर् और अन्तर् इन दोनों शब्दों के आगे जो अंग शब्द है वह उपकारकवाची और अंग शब्द के साथ दोनों शब्दों का बहुव्रीहि समास है [निमित्तसमुदायस्य मध्ये यस्य कार्यस्यांगमुपकारि निमित्तं बहिः कार्यान्तरा-पेक्षया दूरमधिकं वा वर्तते तद्बहिरङ्गं कार्यम्, एवं निमित्तसमुदायस्य मध्ये



यस्य कार्यस्याङ्गमुपकारिनिमित्तमन्तः कार्यान्तरापेक्षया सन्निहितं वा न्यूनं वर्तते तदन्तरङ्गं कार्यम्, तथा बहुपेक्षं बहिरङ्गमल्पापेक्षमन्तरङ्गम् ) बहिरङ्ग उस को कहते हैं कि प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण और पद के समुदाय में जिस कार्य के उपकारी अवयव दूसरे कार्य की अपेक्षा से दूर वा अधिक हैं। और अन्तरङ्ग वह कहाता है कि प्रकृति आदि निमित्तों के समुदाय में जिस कार्य के उपकारी अवयव दूसरे कार्य की अपेक्षा से समीप वा न्यून हैं। तथा जो बहुत निमित्त और व्याख्यान की अपेक्षा रखे वह बहिरङ्ग तथा थोड़े निमित्त और व्याख्यान की अपेक्षा रखे वह अन्तरङ्ग कहाता है। इसलिये प्रायः अन्तरङ्ग-कार्य प्रथम होता है और बहिरङ्ग असिद्ध हो जाता है। और कहीं २ बहिरङ्ग प्रथम हो भी जावे तो अंतरङ्गकार्य की दृष्टि में असिद्ध अर्थात् नहीं हुआ सा ही रहता है। अब प्रकृत में (नार्कुटः, नार्पत्यः) यहां ककार पकार विसर्जनीय के निमित्त अंतरङ्ग और वृद्धि का निमित्त तद्धित बहिरङ्ग है सो प्रथम बहिरङ्ग कार्य वृद्धि होभी जाती है। परन्तु अंतरङ्गकार्य विसर्जनीय करने में वृद्धि के असिद्ध होने से रेफ ही नहीं फिर विसर्जनीय किस को हो तथा (वाह् जठ्) इस सूत्र में (जठ्) नहीं पढ़ते तो संप्रसारण की अनुवृत्ति आकर (प्रष्ठ×वाह्×णिव्×अस्) इस अवस्था में णिव प्रत्यय के परे वकार को (उ) संप्रसारण और पूर्वरूप हो कर। (प्रष्ठ×उह्×णिव्×अस्) इस अवस्था में उकार को ओकार (गुण) और उस ओकार के साथ वृद्धि एकादेश होकर (प्रष्ठौहः) आदि प्रयोग सिद्ध होही जाते फिर जठ् ग्रहण व्यर्थ हो कर यह ज्ञापक होता है कि (प्रष्ठौहः) आदि में गुण करते समय संप्रसारण (असिद्ध) होता है अर्थात् यजादिप्रत्ययनिमित्त भसंज्ञा और भसंज्ञाके आश्रय संप्रसारण होता है इसप्रकार बहुत अपेक्षा वाला होने से संप्रसारण बहिरङ्ग और (वि) प्रत्यय को मान के गुण अंतरङ्ग है फिर अंतरङ्ग गुण करने में जब संप्रसारण असिद्ध हुआ तो गुण की प्राप्ति नहीं जब गुण नहीं हुआ तो वृद्धि होकर (प्रष्ठौहः) आदि प्रयोग भी नहीं बन सकते इसलिये जठ्ग्रहण करना चाहिये इसी जठ् ग्रहण के ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है तथा (पचावेदम्, पचामेदम्) यहां लोट्के उत्तम पुरुष के एकार को ऐकारादेश प्राप्त है सो ऐत्व अंतरङ्ग की दृष्टि में (आद्गुणः) सूत्र से हुआ गुण बहिरङ्ग होने से असिद्ध है इसलिये वहां एकारही नहीं तो ऐकार किसको हो। इत्यादि इस परिभाषा के असंख्य प्रयोगन हैं। लोक में भी अंतरंग कार्य करने में बहिरङ्ग असिद्धही माना जाता है जैसे। मनुष्य प्रातःकाल उठकर पहिले निज शरीरसंबन्धी अंतरङ्गकार्यों को करता है पीछे मित्रों के और उस

के पीछे सम्बन्धियों के काम करता है क्योंकि मित्र आदि के कार्य निज शरीर को अपेक्षा में बहिरङ्ग हैं ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

जब अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्षण परिभाषा में ये दोष हैं कि (अक्षय्यव्यति अक्षय्युः, हिरण्यव्युः ) यहाँ ( दिव् ) धातु से क्तिप् प्रत्यय के परे क्तिप् को मान के वकार को ऊठ् होता है उस बहिरङ्गऊठ् को असिद्ध मानें तो यणादेश नहीं हो सकता इत्यादि दोषों की निवृत्ति के लिये यह अगली परिभाषा है ॥

४५—नाजानन्तर्ये बहिरङ्गकृतिः ॥ अ० १ । ४ । २ ॥

जहाँ दोनों अक्षरों के समीप वा मध्य में कार्य विधान करते हो वहाँ अन्तरङ्ग बहिरङ्गलक्षण परिभाषा नहीं लगती इस से (अक्षय्युः) आदि में बहिरङ्ग ऊठ्को जब असिद्ध नहीं माना तो यणादेश भी होगया तथा ( षत्वतुको रसिद्धः ) इस सूत्र में तुक्ग्रहण का यही प्रयोजन है कि ( अधीत्य, प्रेत्य ) इत्यादि प्रयोगों में तुक् अन्तरङ्ग और सर्वदोष तथा गुण एकादेश बहिरङ्ग है जो तुक् अन्तरङ्ग के करने में बहिरङ्ग एकादेश असिद्ध होजाता तो तुक् ही ही जाता फिर तुग्-विधि में एकादेश को असिद्ध करने से यह ज्ञापक निकला कि जो दो अक्षरों के आश्रय बहिरङ्गकार्य हो वह अन्तरङ्गकार्य की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता । इसी तुक्ग्रहणज्ञापक से यह परिभाषा निकली है ॥ ४५ ॥

(गोमान् प्रियो यस्य स गोमत्प्रियः, यवमत्प्रियः, गोमानिवाचरति गोमत्यते, यवमत्यते) इत्यादि प्रयोगों में समासाश्रित अन्तर्वर्त्तिनीविभक्ति का लुक् द्विपदाश्रय होने से बहिरङ्ग और (हल्ङ्यादि) सूत्र से प्रागसुलोप एकापदाश्रय होने से अन्तरङ्ग है सो जो बहिरङ्गका बाधक अन्तरङ्ग होजावे तो नुम् आदि कार्य होकर (गोमत्प्रियः) प्रयोग सिद्ध नहीं किन्तु (गोमान्प्रियः) ऐसा प्राप्त होवे सो अनिष्ट है इसलिये यह परिभाषा है ॥

४६—अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गो लुग् भवति ॥

अ० ७ । २ । ९८ ॥

अन्तरङ्गविधियोंको बाध के भी बहिरङ्गलुक् होता है अर्थात् जब अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का लुक् समासाश्रय होने से बहिरङ्गहुआ एकपदाश्रयसुलोप आदि अन्तरङ्गों का बाधक होगयातो (नलुमतांगस्य) इस सूत्र से नुम् आदि करनेमें प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर (गोमत्प्रियः) इत्यादि प्रयोग बनजाते हैं तथा (प्रत्ययोत्तरपदयोश्च)

इस सूत्र का यही प्रयोजन है कि (त्वामिच्छति, त्वद्यति, मद्यति, तवपुत्रस्त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः त्वं नाथोस्य त्वन्नाथः, मन्नाथः) इत्यादि प्रयोगों में (युष्मद्, अस्मद्) शब्दों को (त्व, म) आदेश होजावे (त्वं नाथोऽस्य) इस अवस्था में मध्यवर्तिनी विभक्ति का लुक् (त्व, म) आदेश होने के पहिले और पीछे भी प्राप्त होने से नित्य और (त्व, म) आदेश अन्तरङ्ग है नित्य से अन्तरङ्गबलवान् होता है यह तो कहचुके हैं। सो जो अन्तरङ्ग होने से (त्व, म) आदेश पहिले हो जावे तो इस सूत्रका कुछ प्रयोजन न रहे क्योंकि वर्त्तमान विभक्ति के परे (त्वमाविकवचने) सूत्र से (त्व, म) होही जावेंगे फिर व्यर्थ हो कर यह ज्ञापक हुआ कि अन्तरङ्गविधियों का भी बहिरङ्ग लुक् बाधक होता है फिर जब बहिरङ्ग लुक् पहिले हुआ तो सूत्र सार्थक रहा और इसी ज्ञापक से यह परिभाषा निकली ॥ ४६ ॥

(पूर्वेषुकामशमः) यहां (पूर्वेषुकामशमी) शब्द से तद्धित (अण्) प्रत्यय होता है (पूर्व×इषु×काम×शमी×अ) इस अवस्था में जो तद्धित प्रत्ययाश्रित बहिरङ्ग उत्तरपदवृत्ति से अन्तरङ्ग होने के कारण इकार इकार को गुण एकादेश पहिले हो जावे तो पूर्वात्तरपद के पृथक् २ न रहने और उभयाश्रय कार्य में अन्तादिवद्भाव के निषेध होने से (दिशोऽमद्राणाम्०) इस सूत्र से उभयपद वृत्ति नहीं हो सकती इत्यादि दोषों को निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### ४७-पूर्वात्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति नैकादेशः॥अ० १।४।२॥

पूर्वात्तरपदनिमित्तकार्य से अन्तरङ्ग भी एकादेश पहिले नहीं होता किन्तु पूर्वात्तरपदनिमित्त कार्य अन्तरङ्ग एकादेश से पहिले हो जाता है इस से (पूर्वेषुकामशमः) यहां अन्तरङ्ग मान कर प्रथम गुण एकादेश नहीं होता किन्तु पहिले उत्तरपद को वृद्धि होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है। यह भी परिभाषा (४५) वीं परिभाषा की सहचारिणी है। इस का ज्ञापक यह है कि (नेन्द्रस्य परस्य) इस सूत्र में उत्तरपदवृद्धिका निषेध है कि उत्तरपद में इन्द्र शब्द को वृद्धि न हो जिस से (सौमेन्द्रः) प्रयोग सिद्ध होजावे। सो जो सोम के साथ इन्द्र का एकादेश अन्तरङ्ग होने से पहिले होजावे तो इन्द्र शब्द का इकार तो एकादेश में गया अन्त्य का अच् तद्धित प्रत्यय के परे लोप में गया फिर जब उत्तरपद इन्द्र शब्द में कोई अच् ही नहीं तो वृद्धि का निषेध क्यों किया इस से व्यर्थ हो कर यह ज्ञापक हुआ कि अन्तरङ्ग भी एकादेश पूर्वात्तरपद कार्य के पहिले नहीं होता किन्तु अन्तरङ्ग का बाधक उत्तरपदवृद्धि पहिले होती है इसलिये उत्तरपद में इन्द्र शब्द को वृद्धि का निषेध किया है ॥ ४७ ॥

• ( प्रधाय, प्रस्थाय ) इत्यादि प्रयोगों में ( क्त्वा ) प्रत्ययके स्थानमें ( ल्यप् ) आदेश होता है सो ल्यप् होने के पहिले ( प्रधा×त्वा ) इस अवस्था में धा के स्थानमें ( हि ) और ( स्था ) को इकारादेश तथा ( त्वा ) को ( ल्यप् ) भी प्राप्त है इसमें हि आदि आदेश पर और अन्तरङ्ग हैं और ल्यप् बहिरङ्ग है सो पर और अन्तरङ्ग मान के हि आदि आदेश कर लें तो ( प्रधाय, प्रस्थाय ) आदि प्रयोग नहीं बन सकें इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ४८—अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते ॥ अ० २।४।३६॥

अन्तरङ्ग विधियों का भी बहिरङ्ग ल्यवादेश बाध करता है । इससे ( हि ) आदि आदेशों को बाधके प्रथम ( ल्यप् ) हो गया फिर हि आदि को प्राप्ति नहीं तो ( प्रधाय, प्रधाय, प्रस्थाय ) आदि प्रयोग सिद्ध हो गये और ( अदो जग्धिर्ल्यप् किति ) इस सूत्रमें ल्यप् का ग्रहण नहीं करते तो तकारादि प्रत्ययमात्र की अपेक्षा रखने वाला अद् धातु को ( जग्धि ) आदेश अन्तरङ्ग होने के कारण पूर्वपद की अपेक्षा रखने वाले समासाश्रित बहिरङ्ग ल्यप् आदेश से प्रथम हो जाता फिर ल्यप् ग्रहण व्यर्थ होकर इसका ज्ञापक हुआ कि ( अन्तरङ्गविधियों को भी बाधके पहिले ल्यप् होता है ) फिर तकारादि कित् न होनेसे ( जग्धि ) आदेश प्राप्त नहीं होता इसलिये ल्यप् ग्रहण किया है । यही ल्यप् ग्रहण इस परिभाषाके निकलनेमें ज्ञापक है ॥ ४८ ॥

( इयाय, इययिथ ) इत्यादि प्रयोगोंमें पर होनेसे गुण वृद्धि और नित्य होनेसे द्वित्वप्राप्त है द्वित्व होनेके पश्चात् ( इ×इ×अ, इ×इ×इथ ) इस अवस्थामें परत्वसे गुण वृद्धि और अन्तरङ्ग होनेसे सवर्णदीर्घ एकादेश प्राप्त है सो जो बलवान् होनेसे अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ एकादेश हो जावे तो ( इयाय, इययिथ ) आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकें इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ४९—वारणादाङ्गं बलीयो भवति ॥ अ० ६।४।७८॥

वर्णकार्यसे अङ्गकार्य बलवान् होता है । यहां वर्णकार्य सवर्णदीर्घ एकादेश और अंगकार्य गुणवृद्धि है उस वर्णकार्यसे अंगकार्यको बलवान् होनेसे गुणवृद्धि प्रथम होकर ( इयाय, इययिथ ) इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ( अभ्यासस्यासवर्णे ) इस सूत्रमें असवर्ण अच् के परे अभ्यासके इवर्ण उवर्ण को ( इवड्, उवड् ) आदेश कहे हैं सो जो गुणवृद्धिका बाधक एकादेश हो जावे तो अभ्याससे परे

असवर्णं अच् ही ही नहीं सकता फिर उस असवर्ण गुण हृद्धि किये अच् के परे ( इयङ्, उवङ् ) कहने से निश्चित ज्ञात हुआ कि ( वर्णकार्य का बाधक अंग-कार्य होता है ) यही असवर्ण अच् के परे ( इयङ्, उवङ् ) का विधान इस परिभाषा के होने में ज्ञापक है ॥ ४८ ॥

यह बात प्रथम लिख चुके हैं कि अन्तरङ्ग से भी अपवाद बलवान् होता है ( जुसि च ) इस सूत्र से जो गुणविधान है सो ( कङिति च ) आदि निषेधप्रकरण का अपवाद है क्योंकि ( भि ) के ङिन् होने से उसके स्थान में जुम् भी ङित् ही आदेश होता है सो जैसे ( अविभयुः, अविभतः ) इत्यादि में निषेध का बाध जुस् में गुण होता है वैसे ही [ चिनुयुः, सुनुयुः ] यहाँ [ यासुट ] के आश्रय से प्राप्त गुण निषेध का भी बाधक होजाये तो ( चिनुयुः, सुनुयुः ) आदि प्रयोगों में गुण होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

५०—येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ॥

अ० १ । १ । ६ ॥

जिस कार्य की प्राप्ति में अपवाद का आरम्भ किया जाता है वह अपवाद उसी कार्य का बाधक होता है और जिस की प्राप्ति अप्राप्ति में सर्वथा अपवाद का आरम्भ है उसका बाधक नहीं होता इससे यह आया कि ( चिनुयुः, सुनुयुः ) यहाँ दो ङित् हैं एक सार्वधातुक जुस् प्रत्यय का और दूसरा यासुट का सो सार्वधातुक प्रत्ययाश्रित जो ङित्व है उसी को मान के प्राप्त गुण का निषेध है उस निषेध की प्राप्ति में जुस् के परे गुण कहा है और यासुट के ङित्वनिमित्त प्राप्त निषेध के होने वा न होने में उभयत्र जुस् के परे गुण कहा है क्योंकि ( अविभयुः ) आदि में यासुट के बिना केवल सार्वधातुक के आश्रयगुण का निषेध प्राप्त है इस लिये ( चिनुयुः ) आदि में गुण नहीं होता । इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं ॥ ५० ॥

अब इस पूर्वाक्त परिभाषा के विषय में यह विशेष विचार है कि ( नासिको-दरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाश्च ) यह सूत्र अगले ( न कोडादिवह्वचः, सहनञ्० ) इन दो सूत्रों का अपवाद है और दोनों की प्राप्ति में इस का आरम्भ भी है पूर्व परिभाषा के अनुकूल माना जावे तो सह, नञ् और विद्यमानपूर्वक शब्दों से प्राप्त निषेध का बाधक ङीष् प्रत्यय ( सनासिका, अनासिका, विद्यमाननासिका ) आदि में भी ( ङीष् ) प्रत्यय होना चाहिये तो ये प्रयोग नहीं बनसकें इसलिये यह परिभाषा है ॥

५१-पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते न परान् ॥

अ० ॥ ४ । १ । ५५ ॥

जो पहिले अपवाद और पीछे उत्सर्ग पढ़ा हो तो वह अपने समीपस्थ कार्य का बाधक हो और परविधि अर्थात् जिसके साथ व्यवधान है उस का बाधक नहीं होवे । इस से बह्वच लक्षण से प्राप्त [डोप् ] के निषेध का बाधक हुआ और सह, नञ्, विद्यमान पूर्वक नासिका से प्राप्त डोप् के निषेध का बाधक नहीं हुआ । इस प्रकार ( सनासिका, अनासिका ) आदि प्रयोग सिद्ध हो गये । इसी प्रकार अन्यत्र भी इसका विषय जानना ॥ ५१ ॥

अब ( नासिकोदरौठ० ) इस सूत्र में जो ओष्ठ आदि पांच संयोगोपध शब्द हैं उन से निषेध भी प्राप्त है उस का बाधक पूर्व परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि ( नासिकोदर० ) सूत्र से भी संयोगोपध का निषेध पूर्व है ( नासिकोदर० ) सूत्र में नासिका और उदर शब्द तो सह आदि पूर्व होने से पर दोनों सूत्रों के अपवाद हैं और ओष्ठ आदि शब्द सह आदि पूर्व हैं तो ( सहनञ् ) इस पर सूत्र के और सामान्य उपपद में ( स्वाङ्गाच्चोप० ) इस पूर्व सूत्र के भी अपवाद ही । सो दोनों के अपवाद होने चाहिये या किसी एक के । इस सन्देह की निवृत्तिके लिये यह परिभाषा है ॥

५२-मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाध्यन्ते नोत्तरान् ॥ अ०

४ । १ । ५५ ॥

जो पूर्व पर दोनों और उत्सर्ग और मध्य में अपवाद पढ़ा होतो वह अपने से पूर्वविधि का बाधक होता है उत्तर का नहीं इस से ( विम्बोडौ, विम्बोष्ठा, दीर्घजह्वी, दीर्घजङ्घा ) इत्यादि उदाहरणों में संयोगोपधलक्षण निषेध का बाधक होगया और ( सदन्ता, अदन्ता, विद्यमानदन्ता ) इत्यादि में परसूत्र से प्राप्त निषेध की बाधा नहीं हुई । इसी प्रकार सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिये ॥ ५२ ॥

(सुडनपुंसकस्य) इस सूत्र में सुट् की सर्वनामसंज्ञा का निषेध है सो (कुण्डानि तिष्ठन्ति, वनानि तिष्ठन्ति) यहाँ भी जो नपुंसक के सुट् की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध होजावे तो ( नुम् ) आदि होकर ( कुण्डानि ) आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं सो न होसकें इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ५३-अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा ॥ अ० १ । १ । ४३ ॥

जिस में कुछ अन्तर न हो अर्थात् जो अत्यन्त समीप हो उस का विधि वा निषेध होता है दूरस्थ का नहीं । इससे सुट् करके जो सर्वनामस्थानसंज्ञा की प्राप्ति है उसी का निषेध करता है ( शि ) की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध नहीं इससे कुण्डानि आदि प्रयोग बन जाते हैं । और ( नेटि ) सूत्र में इडादि सिच के परे वृद्धि का निषेध होता है सो जो दूरस्थ वृद्धि का भी होतो अमाजीत्, अलावीत्, अपावीत् इत्यादि में भी वृद्धि का निषेध होना चाहिये इस परिभाषा से समीपस्थ हलन्तलक्षण वृद्धि का निषेध हो जाता है सामान्य करके नहीं इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ५३ ॥

( ददति, दधति ) इत्यादि प्रयोगों में जो प्रत्ययादि भकार को अन्तरङ्ग होने से अन्तादेश प्रथम हो जावे तो अभ्यस्तसंज्ञकों से विहित प्रत्ययादि भकार को अत् आदेश व्यर्थ और अनिष्टप्रयोग सिद्ध होने लगें इसलिये ये परिभाषा हैं ॥

५४-नचापवादविषये उत्सर्गोऽभिनिविशते ॥

५५-पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः ॥

५६-प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्तते ॥ अ० ६ । १ । ५ ॥

ये तीनों परिभाषा उत्सर्गापवाद की व्यवस्था के लिये हैं अपवादविषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती । प्रथम अपवादों की और पश्चात् शेषविषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति होती है । अपवाद के विषय को छोड़के अपने विषय में उत्सर्ग प्रवृत्त होते हैं । इससे यह आया कि अभ्यस्तसंज्ञक से प्राप्त जो प्रत्ययादि भकार को अत्, आदेश उस अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति न होने से प्रथम अपवाद प्रवृत्त हुआ तो प्रत्ययादि भकार को अत् आदेश ही कर [ ददति, दधति ] आदि प्रयोग सिद्ध हो गए । और जैसे अन्त आदेश का बाधक [ पचेयुः, अजागरुः ] आदि प्रयोगों में भि को जुस् होता है वैसे [ ऐप्सन् ] आदि प्रयोगों में उत्सर्ग का विषय है उस में भि को जुस् नहीं होता । अर्थात् अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती और उत्सर्ग के विषय में अपवाद की प्रवृत्ति हो ही जाती है ॥ ५६ ॥

अब पूर्व परिभाषाओं से यह आया कि अपवादविषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु स्वविषय में अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है तो [ दीर्घोऽकितः ] इस सूत्र में अकित् ग्रहण व्यर्थ होता है क्योंकि जो सामान्य से अभ्यास को दीर्घ

कहते तो अनुनासिकान्त अकारोपध धातुओं के अभ्यास को दीर्घ का बाधक ( नुक् ) आगम हो कर अजन्त के न रहने से दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं थी तो ( यंबम्यते, रंरम्यते ) आदि प्रयोग सिद्ध हो ही जाते फिर अकित् ग्रहण व्यर्थ हो कर इस वक्ष्यमाण परिभाषा के निकलने में ज्ञापक है ॥

### ५७-अभ्यासधिकारेष्वपवादा उत्सर्गान्नि बाधन्ते ॥अ०७।४।८३॥

अभ्यास के आदेशविधानप्रकरण में अपवाद उत्सर्गों के बाधक नहीं होते तो जब दीर्घरूप उत्सर्ग का बाधक नुक्, न रहा तो (यंबम्यते) आदि में दीर्घ की प्राप्ति हुई इसलिये अकित् ग्रहण सार्थक हुआ यह तो स्वार्थ में चरितार्थ और अन्यत्र फल यह है कि (डोढीक्यते, तोत्रीक्यते) इत्यादि प्रयोगों में उत्सर्गरूप ह्रस्वका बाधक दीर्घ नहीं होता और जो ह्रस्व का अपवाद होने से औकार को औकार ही दीर्घ कर लेवे तो फिर ह्रस्व होकर गुण न होवे तो ( डोढीक्यते ) आदि प्रयोग भी सिद्ध न हों इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं ॥ ५७॥

तक्कीलादि अर्थों में ( तन् ) प्रत्यय एवुल् का अपवाद है और ( एवुल् ) तथा ( तन् ) असरूप प्रत्यय भी हैं सो धात्वधिकार में असरूप प्रत्यय उत्सर्ग का बाधक विकल्प करके होता है पक्ष में उत्सर्ग भी होजाता है अब ( निन्दहिंसक्लिश० ) इस सूत्र में ( वुञ् ) प्रत्यय का ( तन् ) अपवाद क्यों पड़ा क्योंकि तन् के द्वितीय पक्ष में एवुल् होकर ( निन्दकः, हिंसकः ) आदि प्रयोग बन ही जाते कि जो ( वुञ् ) प्रत्यय के होने से बनते हैं और ( निन्दकः ) आदि में ( एवुल्, वुञ् ) का स्वर भी एक ही होता है एक ( असूयक ) शब्द के स्वर में तो ( एवुल्, वुञ् ) के होने से भेद पड़ेगा । एवुल् का स्वर [ असूयकः ] वुञ् का [ असूयकः ] और [ निन्दकः ] आदि में आयुदात्त ही रहेगा । फिर निन्द आदि धातुओं से वुञ् विधान व्यर्थ हुआ इसलिये यह ज्ञापकसिद्ध परिभाषा है ॥

### ५८-ताच्छीलिकेषु सर्व एव तृजादयोवाऽसरूपेण न भवन्ति॥

अ० ३।२।१४६ ॥

टच् आदि अपवादां के साथ असरूप उत्सर्ग रूप प्रत्यय तक्कीलाधिकार विहित अपवादां के पक्ष में नहीं होते । इस से तक्कीलाधिकार विहित तन् के पक्ष में जब एवुल् नहीं होसकता तो निन्द आदि धातुओं से वुञ् विधान सार्थक होगया और [ असूयकः ] में स्वर भेद होने के लिये [ वुञ् ] कहना आवश्यक ही है । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ५८ ॥



अब धात्वधिकार में सर्वत्र वाऽसरूपवेत्ति के मानने से ( हसितं, हसनं वा छात्रस्य शोभनम् ) यहाँ (क्त) और ल्युट् के विषय में घञ् (इच्छति भोक्तुम् ) यहाँ ( लिङ्, लोट् ) और (ईषत्पानः सोमो भवता) यहाँ (खल् ) असरूप उत्सर्ग होने से प्राप्त हैं इस संदेह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### ५९-क्त ल्युट् तु मुन् खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति ॥अ० ३।१।९४॥

क्त, ल्युट्, तुमुन्, और खलर्थप्रत्ययों के विषय में असरूप उत्सर्ग प्रत्यय अपवाद-पक्ष में नहीं होते इस से ( हसितम्, हसनम् ) आदि प्रयोगों के विषय में घञ् आदि उत्सर्ग प्रत्यय नहीं होते ( अर्हं कृत्यत्वच्य ) इस सूत्र में कृत्य और त्वच् प्रत्यय नहीं कहते तां अर्हं अर्थ में अर्हे हुए लिङ् के साथ असारूप्य होने से अर्हं अर्थ में कृत्य और त्वच् हो ही जाते फिर कृत्य और त्वच् ग्रहण व्यर्थ होकर यह जनाते हैं कि ( वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ) यह परिभाषा अनित्य है ॥ ५९ ॥

( हगखतोर्लङ्च ) इस सूत्र में लङ् ग्रहण नहीं करते तो भूतानद्यतनपरोक्षकाल में, विहित ( लिट् ) के साथ असरूप ( लङ् ) का समावेश हो ही जाता फिर लङ् व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है ॥

### ६०-ज्ञादेशेषु वाऽसरूपविधिर्न भवति ॥अ० ३।१।९४॥

लकारार्थ विधान में वाऽसरूपविधि नहीं होती । इस से लङ् लकार का ग्रहण सार्थक हुआ । और [ लटः गृह्यमानचा० ] यहाँ विकल्पकी अनुवृत्ति इसलिये करते हैं कि जिस से तिङ् का भी पक्ष में समावेश हो जावे जो [ वाऽसरूप-विधि ] होजाती तो तिङ् समावेश के लिये विकल्पनहीं लाने पड़ता इत्यादि अनेक प्रयोजन इस परिभाषा के समझने चाहिये ॥ ६० ॥

अब ( तस्मिन्निति, तस्मादित्युत्तरस्य ) इन सूत्रों से सप्तमीनिर्दिष्टकार्य अव्यवहित पूर्व को और पंचमीनिर्दिष्ट उत्तर को होता है सो [ इको यणचि ] यहाँ सप्तमीनिर्दिष्ट पूर्व को और [ व्यन्तरूपसर्गोभ्योऽपदेत् ] हीपम् । यहाँ पंचमीनिर्दिष्ट उत्तर को होता है । परन्तु जहाँ पंचमी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का निर्देश हो वहाँ किसकोकार्य होना चाहिये इस संदेह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### ६१-उभयनिर्देशो विप्रतिषेधात् पंचमीनिर्देशः ॥अ० १।१।६६॥

जहाँ सप्तमी पंचमी दोनों विभक्तियों से निर्देश किया है वहाँ [ तस्मिन्निति० तस्मादित्यु० ] इन दोनों सूत्रों में पर विप्रतिषेध मान के पंचमीनिर्दिष्ट का कार्य

होना चाहिये जैसे ( बहोर्लोपोभूच बहोः ) यहां ( बहु ) शब्द पंचमीनिर्दिष्ट और ( इष्ठन्, इमनिष्, ईयसुन् ) सप्तमीनिर्दिष्ट हैं यह बहु से परे इष्ठन् आदि को वा इष्ठन् आदि के परे बहु शब्द को कार्य होवे इस सन्देह की निवृत्ति इस परिभाषा से हुई कि पंचमीनिर्दिष्ट को कार्य होना चाहिये अर्थात् बहु से परे इष्ठन् आदि को कार्य होवे सोपरको विहितकार्य अर्थात् ईयसुन् के आदि का लोप हो जाता है भूयान्, भूमा तथा ( ङमो ह्रस्वाच्चिङमुण् नित्यम् ) यहां ङम् से परे अच् को वा अच् परे हो तो ङम् को कार्य हो यह सन्देह है । सो ह्रस्व से परे जो ङम् उस से परे अच् को कार्य होता है ( तिङ्ङतिङः ) कुर्वन्नास्ते । इत्यादि बहुत सन्देह निवृत्त हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

इस व्याकरणशास्त्र में ( स्वरूपं शब्दस्या० ) इस परिभाषासूत्र के अनुकूल ( पयस्कुम्भो, पयस्पात्री ) इत्यादि प्रयोगों में विसर्जनीय को सकारादेश न होना चाहिये क्योंकि कुम्भ और पात्र आदि शब्दों के परे कहा है उन के स्वरूप ग्रहण होने से स्त्रीलिङ्ग में नहीं हो सकता । इसलिये यह परिभाषा है ॥

६२—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति ॥

अ० ४ । १ । १ ॥

प्रातिपदिक के परे वा प्रातिपदिक को जहां कार्य कहा हो वहां पठितलिङ्ग से विशेषलिङ्ग का भी ग्रहण होना चाहिये इस से पयस्कुम्भी आदि प्रयोग भी सिद्ध हो जाते हैं जैसे सर्वनाम को सुठ् कहा है सो ( येषाम्, तेषाम् ) यहां तो होता ही है ( यासां, तासां ) यहां भी हो जावे जैसे ( कष्टं श्रितः कष्टश्रितः ) यहां समास होता है वैसे ( कष्टं श्रिता कष्टश्रिता ) यहां भी हो जावे जैसे ( हस्तिनां समूहो हास्तिकम् ) यहां ठक् होता है वैसे ( हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् ) यहां भी हो जावे जैसे ( ग्रामेवासी ) यहां सप्तमी का अलुक् होता है वैसे ( ग्रामे वासिनी ) यहां भी हो जावे इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६२ ॥

जब प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है तो जैसे ( युमः पश्य ) यहां युवन् शब्द को सम्प्रसारण होता है वैसे ( युवतीः पश्य ) यहां स्त्रीलिङ्ग में भी होना चाहिये इत्यादि सन्देहों की निवृत्ति के लिये यह परि० ॥

६३—विभक्तौ लिङ्गविशिष्टग्रहणं न ॥ अ० ७ । १ । १ ॥

विभक्ति के आश्रय कार्य करने में पठितलिंग से अन्य लिंग का ग्रहण नहीं होता । इस से भसंज्ञाश्रय सम्प्रसारण युवति शब्द को नहीं होता तथा जैसे

(गोमान्, यवमान्) यहां नुम् और दीर्घ होते हैं वैसे (गोमती, यवमती) यहां होवे से सर्वनामस्थ विभक्त्याश्रित कार्य होने से नहीं होता जैसे (सखा, सखायौ) यहां सखि शब्द को आकारादेश होता है वैसे (सखी, सख्यौ, सख्यः) यहां स्त्रीलिङ्ग में विभक्त्याश्रित आकार नहीं होता इत्यादि इस परिभाषा के भी बहुत प्रयोजन हैं ॥ ६३ ॥

(तस्यापत्यम्) इस सूत्र में (तस्य) यह पुल्लिङ्ग षष्ठी का एक वचन और अपत्य शब्द नपुंसकलिङ्ग प्रथमैकवचननिर्देश किया है तो (कन्याया अपत्यं, कानीनः) यहां स्त्रीलिङ्ग शब्दसे कानीन शब्द नहीं सिद्ध होना चाहिये और (द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः) यहां द्विवचन से प्रत्ययोत्पत्ति भी नहीं होनी चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ६४-सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् ॥ अ० ४।१।९२ ॥

जो सूत्र में लिङ्ग और वचन पढ़े हैं वे कार्य करने में प्रधान नहीं होते अर्थात् जहां स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग से तथा एकवचन, द्विवचन बहुवचन से निर्देश किये जावें वहां उसी पठितलिङ्ग वा वचन से कार्य लिया जाय यह नियम नहीं समझना चाहिये किन्तु एक किसी लिङ्ग वा वचनसे शब्द पढ़ा हो तो सभी लिङ्ग वचनों से कार्य हो सकते हैं इस से (कानीनः, द्वैमातुरः) इत्यादि शब्द सिद्ध हो जाते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन इस परिभाषा से सिद्ध होते हैं ॥ ६४ ॥

अब अद्व्यन्त भृशादि प्रातिपदिकों से जो भू धातु के अर्थ में ( क्यङ् ) प्रत्यय होता है वह (कृ दिवा भृशा भवन्ति) यहां भी भृश शब्दसे होना चाहिये इत्यादि सन्देहों की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### ६५-नञ्जुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः ॥ अ०

३।१।९२ ॥

वाक्य में जो नञ्जुक्त पद है उस के समान जो वाक्य में युक्त और उस नञ्जुक्त पदार्थ के सदृश धर्मवाला हो उस में कार्यविधान होना चाहिये। ऐसा ही अर्थ लोक में प्रतीत होता है। अर्थात् वाक्य में जिस पदार्थ को जिस क्रिया का निषेध होवे उस पदार्थ के तुल्य धर्म वाले को उसी क्रिया का विधान कर लेना चाहिये। जैसे लोक में किसी ने कहा कि (अब्राह्मणमानय) ब्राह्मण से भिन्न को लेना तो ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि किसी मनुष्य को ले आता है क्योंकि ब्राह्मण के तुल्य धर्मवाला मनुष्य ही होता है किन्तु यह नहीं होता कि ब्राह्मणसे इतर को मंगवाने में मट्टी वा पत्थर आदि किसी पदार्थ को लेना के अपना अभीष्ट

सिद्ध कर लेवे । इसी प्रकार शास्त्रों में भी जिस का निषेध किया हो उसके सदृश दूसरे का विधान करना चाहिये । यहां जो च्विप्रत्ययान्त से अन्य भृशादिशब्दों से क्यङ् प्रत्यय विधान किया है वह च्विप्रत्ययान्त के तुल्य अर्थ वाले भृशादिकों से क्यङ् होना चाहिये । च्वि प्रत्यय का अर्थ अभूततद्भाव है उसी अर्थ में क्यङ् होता है (अभृशो भृशो भवति, भृशायते ) इत्यादि ( कदिवा भृशा भवन्ति) यहां अभूततद्भाव के न होने से (क्यङ्) नहीं होता । तथा (दधिक्कादयति, मधुक्का दयति ) इत्यादि प्रयोगों में (तुक्) आगम को अभक्त मानें कि न पूर्वान्त और न परादि दोनों से पृथक् है तो अतिङ् से परे तिङ् पद को निघात होजावे । सो तुक् तिङ् से भिन्न तिङ् के तुल्य धर्मवाला पद नहीं है इस से निघात नहीं पावेगा और निघात होना इष्ट है इसलिये (तुक्) को अभक्त नहीं करना, किन्तु पूर्वान्त ही करना चाहिये इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६५ ॥

(उपपदमतिङ्) इस सूत्र में अतिङ्ग्रहण का यही प्रयोजन है कि तिङन्त उपपद का समास न होवे सो जो (सुप्, सुपा) इन दोनों की अनुवृत्ति चली आती है तब तो तिङ् उपपद का समास प्राप्त ही नहीं फिर निषेधार्थ करना व्यर्थ हुआ इसलिये ऐसा ज्ञापक होना चाहिये कि असुबन्त के साथ असुबन्तका भी समास होता है तब तो अतिङ्ग्रहण सार्थक होता है इसलिये यह प० ॥

## ६६-गतिकारकोपपदानां कृद्धिःसह समासवचनंप्राक्सुबुत्- पत्तेः ॥ अ० ४ । १ । ४८ ॥

गति कारक और उपपद इन का कृदन्तके साथ सु आदि की उत्पत्ति से पहिले ही समास होजाता है । यहां केवल सुप्ररहित कृदन्त के साथ समास हुआ तो अतिङ्ग्रहण सार्थक होने से स्वार्थ में चरितार्थ होगया । और अन्यत्र फल यह है कि गति, (सांकूटिनम्) यहां जो तद्धितोत्पत्ति से पहिले सम् और कूटिन् सुबन्तों का समास करके पीछे तद्धित उत्पन्न किया चाहें तो तद्धितोत्पत्ति की विवक्षा में कूटिन् शब्दकी पृथक् पदसंज्ञा रहने से सम् शब्द को वृद्धि नहीं हो सकती । और जब सुप्ररहित केवल कूटिन् कृदन्त के साथ समास होता है तब समास समुदाय की एक पदसंज्ञा होकर तद्धितोत्पत्ति होने से सम् को वृद्धि होजाती है । कारक, (या वस्त्रेण क्रीयते सा वस्त्रक्रीती, अश्वक्रीती) इत्यादि शब्दों में केवल क्रीत कृदन्त के साथ वस्त्र आदि शब्दों का समास होकर कर्ण पूर्व क्रीतान्त प्रातिपदिक से (ङीष्) प्रत्यय होजाता है । और जो सुबन्त के साथ ही समास नियम रहे तो समास की विवक्षा में ही अन्तरङ्ग होने से

अकारान्तक्रीत शब्दसे टाप् होजावे पुनः अकारान्त होजानेसे अकारान्तसे विहित ङीष् प्रत्यय नहीं होवे तो (वस्त्रक्रीती) आदि प्रयोग भी सिद्ध न हो सकें। उपपद, (मासवापिणी, ब्रीह्वापिणी) यहां प्रातिपदिकान्तनकार को णत्व होता है। सो जो सुबन्तों का ही समास करे तो समास को विवक्षा में ही नकारान्त (वापिन्) शब्दसे ङीष् होकर पीछे समास हो तब उस ङीबन्त (मासवापिनी) समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा होवे तो प्रातिपदिकान्त ईकार के होने से फिर णत्व नहीं होसके। और जब केवल कृदन्त वापिन् शब्दके साथ समास होता है तब केवल मासवापिन् नकारान्त शब्दकी प्रातिपदिकसंज्ञा होकर ङीष् होता है तो प्रातिपदिकान्तनकार को णत्व होजाता है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६६ ॥

(उगित्त्वा सर्वनामस्थानेऽधातोः) इस सूत्र में उगित् धातु के निषेध का यही प्रयोजन है कि (उखास्रत्, पणंधत्) इत्यादि में नुम् आगम न हो सो यह प्रयोजन तो (अञ्जु) धातु के ग्रहण से निकल जाता कि (उगित्) धातुको (नुम्) आगम हो तो अञ्जु ही को हो इस नियम से अन्य उगित् धातु को नुम् होता ही नहीं फिर अधातु ग्रहण व्यर्थ हुआ। इसके व्यर्थ होने रूप ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है ॥

## ६७—साम्प्रतिकाऽभावे भूतपूर्वगतिः ॥

जो पदार्थ वर्तमान काल में अपनी प्रथमावस्था से पृथक् होगया होतो उसी पूर्वावस्था के सम्बन्ध से उस को वर्तमान में भी कार्य ही जैसे (गोमन्तमिच्छति, गोमत्यति, गोमत्यते, क्विप्, गोमान्) यहां प्रथम तो गोमान् प्रातिपदिक है पीछे उस से क्यच् हुआ तो धातुसंज्ञा हुई फिर क्यच्प्रत्ययान्त से क्विप् होने से धातुसंज्ञा उसकी बनी रही। सो पूर्व रही प्रातिपदिकसंज्ञा के स्मरण से पीछे धातुसंज्ञा के बने रहते भी (नुम्) होता है अर्थात् अधातुनिषेध नहीं लगता इस से अधातु निषेध भी सार्थक रहा। तथा (आत्मनः कुमारीमिच्छति, कुमारीयति, कुमारीयते: कर्त्तरि क्विप्, कुमारी ब्राह्मणः, तस्मै कुमाय \*ब्राह्मणाय) यहां कुमारी शब्द प्रथमावस्था में स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त है तब तो स्त्र्याख्य ईकारान्त नदीसंज्ञा सिद्ध है पीछे जब पुंलिङ्गवाची हो गया तब भी पूर्वावस्था के भूतपूर्व स्त्रीत्व को लेकर नदीसंज्ञा होके नदीसंज्ञा के कार्य भी होते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६७ ॥

यहां भूतपूर्वगति परिभाषा के मानने से कार्य भी चलजाता तथा अन्य भी सब काम चलता है फिर कुमायै ब्राह्मणाय। इत्यादि प्रयोगसिद्धि के बिधे नदीसंज्ञा में (प्रथमलिङ्गग्रहण) इस वार्तिक का भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा क्योंकि इस परिभाषा के होने से सब काम निकलजाते हैं। वार्तिक एकदेशी और परिभाषा सर्वदेशी है।

• बहुव्रीहिसमासमें अन्य पदार्थ प्रधान होता है अर्थात् जिन दो वा अधिक पदों का समास किया जावे उन पदों से पृथक् पद वाच्य अन्य पदार्थ कहा जाता है जैसे (चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, शबलगुः) यहाँ गौओं का विशेषण (चित्रगुण) और गौ इन दोनों पदों से भिन्न इन का स्वामी (चित्रगु) कहा जाता है इसी प्रकार (सर्व आदिर्येषां तानि सर्वादीनि) यहाँ सर्व और आदि दोनों शब्दों से पृथक् अन्य पदार्थ लिया जावे तो सर्वशब्दकी सर्वनामसंज्ञा नहीं होसके इसलिये यह परिभाषा है॥

६८—भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि\*॥ अ० १।१।२७॥

बहुव्रीहि दो प्रकार का होता है एक (तद्गुणसंविज्ञान) और दूसरा (अतद्गुणसंविज्ञान) तद्गुणसंविज्ञान उस को कहते हैं कि जहाँ उस अन्य पदार्थ के साथ उसके निज गुणों का समवायसम्बन्ध हो जैसे (लम्बकर्णः, तुङ्गनासिकः, दीर्घबाहुः, क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः) इत्यादि में अन्य पदार्थ का बोध कान आदि के सहित होता है। अतद्गुणसंविज्ञान वह है कि जिन पदों का समास किया जावे उन से अन्य पदार्थ का पृथक् सम्बन्ध बना रहे कि जैसे (चित्रगु) शब्दमें दिखा दिया है। इस से सर्वादि में भी तद्गुणसंविज्ञान मान के सर्व शब्द की भी सर्वनामसंज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये ॥ ६८ ॥

जहाँ समास को अन्तोदात्त स्वर कहा है वहाँ (ब्राह्मणसमित्, राजदृषत्) इत्यादि प्रयोगों के अन्त में तकार है तो विधानसामर्थ्य से उस व्यञ्जन को ही उदात्त होजाना चाहिये इत्यादि सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परि० ॥

६९—हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवति† ॥ अ० ६।१।२२३॥

व्यञ्जनको उदात्तादि स्वर प्राप्त होता वह व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है इससे (ब्राह्मणसमित्) आदि प्रयोगों में अन्य तकार को अविद्यमानवत् मानके इकार

\* इस परिभाषा के आगे नागेश ने (चानुकुर्षं नोत्तरच्च) यह परिभाषा लिखी है सी ठीक नहीं क्योंकि उसका मूल कहीं महाभाष्यसे वा सूत्रों से नहीं निकलता। और न कोई उदाहरण मुख्य प्रयोजन का दिया।

† इस परिभाषा के आगे नागेश भट्ट तथा अन्य लोग भी महाभाष्य से विकृष्ट लिखते पढ़ते हैं कि (स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्) ऐसा पाठ करने में महाभाष्यकारने ये दोष भी दिखाये हैं कि उदात्तादि स्वरोंके विधान-मात्र में जो व्यञ्जन अविद्यमानवत् माना जावे तो (विद्युत्वात् वलाहकः) यहाँ विद्युत् के तकार को अविद्यमान मानें तो इससे परे मतुप् को उदात्त स्वर (इत्स्वगुड्भां०) स्वर से प्राप्त है इत्यादि अनेक दोष आयेगे। और (हल्स्वरप्राप्तौ०) इस प्रकार की परिभाषा ने कोई दोष नहीं आता इसलिये नागेश आदि का मानना ठीक नहीं है।

को उदात्त होजाता है । इस का ज्ञापक ( यतोऽनावः ) इस सूत्र में यत् प्रत्ययान्त ष्यच् प्रातिपदिक को आद्युदात्त कहा है । और (नौ) शब्द का निषेध इसीलिये है कि (नाव्यम्) वहां आद्युदात्त न हो सो जब आदि में नकारहै तब स्वर के होने से आद्युदात्त प्राप्त ही नहीं फिर निषेध करने से यही प्रयोजन है कि उस नकार का भी स्वर प्राप्त होता है सो अविद्यमानवत् मान के आकार को होजाता इसलिये निषेध किया । तथा अनुदात्तादि वा अन्तोदात्त से परे जो कार्यं कहे हैं उन में जहां आदि और अन्त में व्यञ्जन हैं वहां उन कार्योंकी प्राप्ति नहीं होगी वहां भी अविद्यमानवत् मान कर काम चल जाता है । और जो कदाचित् ऐसा मान लिया जावे कि उदात्तादि गुण व्यंजनों के ही हैं उन के संयोग से अर्चोंके भी धर्म समझे जाते हैं सो नहीं बन सकता क्योंकि व्यंजन के बिना भी केवल अर्चों में उदात्तादि धर्म प्रसिद्ध हैं और अच् के बिना व्यंजन का उच्चारण होना भी कठिनहै इसलिये उदात्तादि गुण स्वतंत्र व्यंजनों के नहीं होसकते । परन्तु यह बात तो माननी चाहिये कि अच् के संयोग से व्यंजन को भी उदात्तादि गुण प्राप्तहो जाते हैं । जैसे दो रङ्गवस्त्रों के बीच एक श्वेत वस्त्र हो तो वह भी कुछ रङ्गित प्रतीत होता है ॥ ६८ ॥

(वामदेवाड् ङङ्ङी) इस सूत्र में ङत् औ ङ प्रत्यय डित् इसीलिये पढ़े हैं कि डित् के परे वामदेव शब्द के टि भाग का लोप होजावे सो ( यस्येति च ) सूत्र से तद्धित के परे भरुञ्जक अर्चण का लोप हो ही जाता फिर डित्करण व्यर्थ हो कर इन परिभाषाओं के निकलने में ज्ञापक है ॥

७०—अनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम् ॥

७१—तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम् ॥ अ० ४।२।१॥

अनुबन्धरहित प्रयोगों के ग्रहण में अनुबन्धसहितोंका ग्रहण नहीं होसकता अर्थात् जहां यत् प्रत्यय डकार अनुबन्ध से रहित पढ़ा है और ङत् में डकारकी इत्संज्ञा होकर यत्ही रह जाता है जहां यत् और य प्रत्यय का ग्रहण किया है वहां ( ङत्, ङ ) प्रत्यय का ग्रहण न हो । और जिस अनुबन्धसे जो प्रत्ययपढ़ा है उस में द्वितीय अनुबन्ध के सहित प्रत्यय का ग्रहण न हो अर्थात् यत् कहनेसे ष्यत् अङ् कहने से चङ् और अच् कहने से णच् का ग्रहण न हो इस से यह

आया कि ( ययतोषातदर्थे ) इस स्वरविधायक सूत्र में नञ् से परे ( य, यत् ) प्रत्ययान्त को अन्तोदात्त स्वर होता है सो जो ( इत्, इ ) का भी ग्रहण होवे तो ( अर्वाभदेव्यम् ) यहां भी अन्तोदात्त स्वर होजावे और पूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्ट है इसलिये ङित्ग्रहण का सार्थक होना स्वार्थ में चरितार्थ और अङ् के परे जो गुणआदि कार्य कहा है सो चङ् के परे नहीं होता और चङ् के परे जो द्वित्वादि कार्य कहा है सो अङ् के परे नहीं होता इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥७०॥७१॥

( णचः स्त्रियामञ् ) यहां णच् प्रत्ययान्त से स्वार्थ में अञ् प्रत्ययकहा है सो ( कर्मव्यतिहारे णच्स्त्रियाम् ) इस सूत्र से णच् प्रत्यय का तो स्त्रीलिंगमें ही विधान है फिर स्वार्थ में णच् प्रत्ययान्त से अञ् कहने से स्त्रीलिंग ही हो जाता क्योंकि स्वार्थिक प्रत्ययों के होने में प्रकृति के लिङ्ग और वचन की अनुवृत्ति होती है फिर स्त्रीग्रहण व्यर्थ हुआ इसलिये यह परिभाषा है ॥

७२-क्वचित्स्वार्थिका अपि प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते ॥

अ० ५ । ३ । ६८ ॥

कहीं २ स्वार्थिक प्रत्यय भी प्रकृति के लिङ्ग वचनों को छोड़ देते हैं । जब प्रकृति के लिङ्ग वचन स्वार्थप्रत्ययोत्पत्ति में सर्वत्र नहीं बने रहते तो ( णचः-स्त्रियामञ् ) सूत्र में स्त्रीग्रहण सार्थक हो गया । तथा ( अप्कल्पम् ) यहां नियत स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त अप् शब्द से कल्पप्रत्यय स्वार्थ में हुआ है सो अपने लिङ्ग वचन छोड़ के नपुंसकलिङ्ग एकवचन रह जाता है तथा ( गुडकल्पा द्राक्षा, पयस्कल्पा यवागूः ) यहां गुडपुलिङ्ग और पयः नपुंसकलिङ्ग से कल्प् प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग हो जाता है । और क्वचित् कहने से यह प्रयोजन है कि ( बहुगु-डो द्राक्षा, बहुपयो यवागूः ) इत्यादि में प्रकृति के अनुकूल ही लिङ्ग वचन रहते हैं इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७२ ॥

( प्रतेरंश्वाद्यस्तत्पुरुषे ) इस सूत्र के अंश्वादिगण में राजन् शब्द पढ़ा है तो उस का यही प्रयोजन है कि प्रति से परे तत्पुरुष समासमें राजन् शब्द अन्तोदात्त होजावे सो जब प्रतिपूर्वक राजन् शब्द से तत्पुरुष समास में समासान्तटच्प्रत्यय प्राप्त है तब तो चित् होने से अन्तोदात्त हीजा जाता फिर राजन् शब्द का पाठ व्यर्थ हुआ इसलिये यह परिभाषा है ॥



## ७३-विभाषा समासान्तो भवति \* ॥ अ० ६। २। १९७ ॥

समासान्त सब प्रत्यय विकल्प करके होते हैं तो प्रतिपूर्वक राजन् शब्दसे जिस पक्ष में समासान्त टच् न हुआ वहां (प्रतिराजा) में भी अन्तोदात्त होजावे इसलिये राजन् शब्द का अंशवादिगण में पढ़ना सार्थक हो गया। तथा ( द्वित्रिभ्यां पाद्न्) इस सूत्र से भी बहुव्रीहिसमास में द्वित्रिपूर्वक मूर्द्ध शब्दको अन्तोदात्त स्वर कहा है सो यहां भी द्वित्रिपूर्वक मूर्द्ध से जब समासान्त ष प्रत्ययविधान है तो प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त सिद्ध हो है फिर मूर्द्धन् शब्द का ग्रहण इसीलिये है कि समासान्त प्रत्यय विकल्प होते हैं सो जिस पक्ष में समासान्त नहीं होता (द्विमूर्द्धा, त्रिमूर्द्धा) यहां भी अन्तोदात्त स्वर हो जावे। इत्यादि प्रयोजनोंके लिये यह परिभाषा है ॥ ७३ ॥

( शतानि, सहस्राणि ) यहां जब सर्वनामस्थान शि को मान के नुम् आगम होता है तब (शतन्, सहस्रन्) शब्दों के नकारान्त हो जाने से (णान्ता षट्) सूत्र से षट्संज्ञा होजावे तो ( षड्भ्यो लुक् ) सूत्र से शिका लुक् होना चाहिये इत्यादि समाधान के लिये यह परिभाषा है ॥

## ७४-सन्निपातलक्षणोविधिरनिमित्तं तद्विधातस्य ॥ अ० १। १। ३९ ॥

जो एक के आश्रय से दूसरे का सम्बन्ध होना है वह सन्निपात कहाता है उसी सन्निपातसंबन्ध का जो निमित्त हो ऐसा जो विधि कार्य है वह उस अपने निमित्तके बिगाड़नेको अनिमित्त अर्थात् असमर्थ होता है। यहां शत, सहस्रशब्द से जस् आकर शि आदेश हुआ अब शि के आश्रय से शत शब्द को नुम् हो कर शत नान्त हुआ अब जिस के आश्रय से शत को नान्तत्व गुण मिला उस नान्त-गुण से उसी का विधात करे यह ठीक नहीं इस से (शतानि, सहस्राणि) आदि में शि का लुक् नहीं होता तथा (इषेष्, उवोष्) यहां षल् प्रत्यय के आश्रय से (इष्, उष्) धातु को गुणहोता है गुण होने से इजादि मान कर आम् प्राप्त है और

ॐ इस परिभाषा का नागेश भट्ट ने ( समासान्तविधिरनित्यः ) ऐसा लिखा है सो महाभाष्यसे विद्वद् किंकि अनित्य और विभाषा में बहुत भेद है अनित्य उस को कहते हैं कि जो कभी हो और कभी न हो और विकल्प के दो पक्ष सदा बने रहते हैं और इस परिभाषा की भूमिका में (सुपथी नगरी) यह महाभाष्य का उदाहरण करके रक्खा है कि पथिन् शब्द से ( इतः स्त्रियाम् ) सूत्र से समासान्त कप् नहीं हुआ तो समासान्त अनित्य है। सो यह नहीं विचारा कि (न पूजनात्) सूत्र से (सुपथी नगरी) आदि सब में पूजनवाची समास से समासान्त का निषेध सिद्ध है जब कप् प्राप्त ही नहीं तो समासान्तविधि के अनित्य होने में (सुपथी नगरी) यह प्रयोग कब समर्थ हो सकता है। देखो व्याकरण में नागेश की कितनी बड़ी भूल है।

आम् के होजाने से उस से परे लुक् कहा है तो उसी णञ् का विघात हो कि जिस के आश्रय से इस उष इजादि हुए हैं इत्यादि इसके अनेक प्रयोजन हैं। और लोक के साथ भी इस परिभाषा का सम्बन्ध है कि जो पुरुष जिस धनाढ्य के धन से स्वयं धनवान् हुआ हो वह उसी धन से धनाढ्य का विघात करे यह बहुत विरुद्ध है अर्थात् ऐसा कभी न होना चाहिये कि जिस के संग से जो सामर्थ्य प्राप्त हो उस सामर्थ्य से उसी को नष्ट करे ॥ ७४ ॥

(पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः) पञ्चेन्द्राणी शब्दसे देवता अर्थ में विहित अण् प्रत्यय का ( द्विगोर्लुगनपत्ये ) सूत्र से लुक् होकर ( लुक्त्वि-तलुकि)सूत्र से ईकार स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। तब डीष् के संयोग से आया जो आनुक् आगम उस का लुक् विधान किसी सूत्र से नहीं किया सो उस आनुक् का अर्थ ही तो ( पञ्चेन्द्रः ) आदि शब्द सिद्ध नहीं हो सकें इसलिये यह परिभाषा है ॥

७५—संनियोगशिष्टानामन्यतराऽभावे उभयोरप्यभावः ॥ अ०

६ । ४ । १५३ ॥

जिस कार्य के होनेमें एक साथ दो का नियम हुआ हो उन में से जब एकका अभाव होजावे तब दूसरे का अपने आप अभाव होजाता है। जैसा किसी कार्य का नियम है कि देवदत्त यज्ञदत्तदोनों मिलके इस काम को करें सो जो देवदत्त न रहे तो यज्ञदत्त उस कार्य से स्वयं निवृत्त होजाता है। इसी प्रकार यहां भी इन्द्र शब्दसे स्त्रीत्व रूप कार्य की विवक्षा को डीष् और आनुक् देने। पूरी करते हैं। सो जब डीष् का अभाव होता है तब आनुक् भी वहां से निवृत्त होजाता है। तथा ( पञ्चाग्नाय्यो देवता अस्य स पञ्चाग्निः) । यहां स्त्री प्रत्यय के लुक् होने के पश्चात् ऐकार आगम की भी निवृत्ति होजाती है। इस परिभाषा का ज्ञापक यह है कि ( विल्वकादिभ्यश्छस्व लुक् ) इस सूत्र में विल्वकादि से परे छ प्रत्यय का लुक् कहा है और उसी छ प्रत्यय के संयोग से विल्वादि शब्दों को कुक् होता है। सो विल्वादि शब्दों से छ का लुक् कहते तो कुक् आगम की भी निवृत्ति हो जाती। इसलिये विल्वादि शब्दों को कुक् आगम के सहित पढ़ उन से परे छ प्रत्ययमात्र का लुक् कहा है। इस से सिद्ध हुआ कि आगमी की निवृत्ति में आगम की निवृत्ति होजाती है। तब छत कुगागम विल्वकादि से छ प्रत्यय का लुक् कहा है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७५ ॥

तदनुबन्धकग्रहणे० इस पूर्व लिखित परिभाषा के अनुकूल अण् प्रत्यय के आश्रय कार्य है वह ण प्रत्यय को मान के न होना चाहिये तो ( कर्मस्ताच्छील्ये ) इस सूत्र का यही प्रयोजन है कि ताच्छील्य अर्थ में ण प्रत्यय परे होता कर्मन् शब्दके टि भाग का लोप हो सो (नस्तद्धिते)सूत्र से नान्त भ संज्ञक अङ्ग के टिका लोप सिद्ध ही है तो ताच्छील्य अर्थ में ( कर्मः ) प्रयोग बन ही जाता फिर यह सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक है ॥

७६-ताच्छीलिकेणोऽण् कृतानि भवन्ति ॥अ० ६।४।१७२॥

तच्छील अर्थ में विहित ण प्रत्यय के परे अण् प्रत्ययाश्रित कार्य भी होते हैं इस से यह आया कि ( अन् ) सूत्र से अण् प्रत्यय के परे अन्नन्त को प्रकृतिभाव कहा है सो ताच्छील्य अर्थ में ण प्रत्यय के परे अन्नन्तकर्मन् शब्द को भी प्राप्त था इसलिये ( कर्मस्ताच्छील्ये ) सूत्र में टिलोपनिपातन सार्थक होगया यह स्वार्थ में चरितार्थ है । अन्यत्र फल यह है कि (पुराशीलमस्याः सा चौरौ, तपः शीलमस्याः सा तापसौ, इत्यादि प्रयोगों में ताच्छीलिक णप्रत्ययान्तसे (टिड्ढाणञ्०) सूत्र में अणन्त से कहा डीप् हो जाता है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७६ ॥

( दाण्डिनाय० ) इस सूत्र में भ्रौणहृत्य शब्द निपातन किया है उस से यही प्रयोजन है कि (भ्रूणघ्नो भावः भ्रौणहृत्यम्) यहाँ निपातन से तकारादेश होजावे सो जो ( हनस्तोऽचिस्सलोः ) सूत्र से ह्यञ् प्रत्यय के परे हन् के नकार को तकारादेश होजाता तो फिर निपातन करना व्यर्थ है इसलिये यह परिभाषा है ॥

७७-धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ॥ अ०७।२।११४॥

जो धातु को कार्य कहा है वह उसी धातु से विहित प्रत्यय के परे हो अर्थात् धातु को कार्य प्रातिपदिक से विहित तद्धित के परे नही इससे हन् धातु को कहा तकारादेश भ्रौणहृत्य में प्रातिपदिक से विहित तद्धित ह्यञ् के परे नहीं हो सकता । इसलिये भ्रौणहृत्य में तकारादेश निपातन करना सार्थक हुआ और अन्यत्र फल यह है कि (भ्रौणघ्नः) यहाँ अण् प्रत्ययके परे तकारादेश नहीं होता तथा (कंसपरिमृड्भ्याम्) यहाँ प्रातिपदिक से विहित विभक्ति के परे मृञ् धातु को कही वृद्धि नहीं होती(रज्जुमृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम्)यहाँ भ्रूलादि अकित् विभक्ति के परे मृञ् धातु को अम् आगम नहीं होता । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥७७॥

( सर्वके, विश्वके, उच्चकैः, नीचकैः)यहाँ सर्वनाम और अव्ययसंज्ञा नहीं होनी चाहिये क्योंकि सर्वादि में सर्व विश्व शब्द और अव्ययों में उच्चैस् नीचैस् शब्दपढ़े हैं

तो जब शब्दके स्वरूप का ग्रहण होता है तो उक्त शब्दों की सर्वनाम और अव्यय-संज्ञा कैसे होगी और संज्ञा के बिना सर्वनाम और अव्यय के कार्य भी नहीं हो सकते इसलिये यह परिभाषा है ॥

७८-तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

कसों के एकदेश में कोई अन्य आजावे तो वह उसी के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है इस से यहां सर्व आदि शब्दों के मध्य में अकच् प्रत्यय आगया वह उसी के ग्रहण से ग्रहण किया गया तो सर्वनामसंज्ञा हो गई । इसी प्रकार ( उच्चकैः ) आदि में अव्ययसंज्ञा होना जानो । तथा ( अहंपटामकि ) यहां अतिङ् से परे तिङ्पद अनुदात्त भी हो जाता है । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७८ ॥

( गातिस्थाषुपा० ) इस सूत्र में गाति निर्देश से तो अदादि के इण् धातु का ग्रहण होना ठीक है । परन्तु पा धातु के ग्रहण में संदेह है कि अलुक्विकरण भवादि और लुक्विकरण अदादि इन दोनों में से किस का ग्रहण किया जावे सो जो अदादि के पा धातु का भी ग्रहण हो तो ( अपासीद्धनम् ) यहां भी सिच् का लुक् हो जाना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

७९-लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम् ॥

अ० ७ । २ । ४४ ॥

लुग्विकरण और अलुग्विकरण के ग्रहण में जहां संदेह पड़े वहां अलुग्विकरण का ही ग्रहण होना चाहिये इस से उक्त ( गातिस्था० ) सूत्र में ( पा पाने ) अलुग्विकरण धातु का ग्रहण हो जाता है । और लुग्विकरण ( पारक्षणे ) का ग्रहण नहीं होता । इस का ज्ञापक यह है कि ( स्वरतिसूतिसूयति ) इस सूत्र में ( सूति, सूयति ) दोनोंके स्थान में सूङ् पढ़ते तो इन्हीं दोनों का ग्रहण हो जाता क्योंकि ये ही दोनों सूङ् हैं तीसरा नहीं परन्तु सूति लुग्विकरण अदादि और सूयति अलुग्विकरण दिवादि का है । इससे यही आया कि सामान्य सूङ् के पढ़ने से अलुग्विकरण सूयति का ग्रहण होता और सूति का नहीं होता इसलिये पृथक् २ दोनों का निर्देश किया गया है इत्यादि इसके अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७९ ॥

( हेरचडि ) इस सूत्र में अभ्याससे परे हि धातु के हकार को कुत्व कहा है परन्तु वह कुत्व चङ् में न हो सो चङ् णिजन्त से होता है उस चङ् के परे हि की अङ्गसंज्ञा ही नहीं किन्तु णिच् के सहित और चिच् के परे हि की अङ्गसंज्ञा है और

अंगाधिकार में अङ्ग को कार्य का विधान वा निषेध होता है इस चङ् के परे कुत्व प्राप्त ही नहीं फिर निषेध क्यों किया इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ८०—प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि कुत्वं भवति ॥ अ० ७।३।५६ ॥

कुषप्रकरण में जहां मूलप्रकृति का ग्रहण है वहां णिच्सहित प्रकृति का भी ग्रहण हो जावे । इस से चङ् के परे निषेध सार्थक होगया और अन्यत्र फल यह है कि ( प्रजिवायधिपति ) यहां णिजन्त हि धातु को सन् प्रत्यय के परे कुत्व हो जाता है इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ८० ॥

(ज्यादादीयसः) इस सूत्र में जो ज्य से परे ईयसन् प्रत्यय को आकारादेश न कहते तो भी लोप को अनुवृत्ति आकर पर के आदि ईकार का लोप होकर अकृत् यकारादि प्रत्यय के परे ज्य को दीर्घ हो के (ज्यायान्) प्रयोग सिद्ध होही जावेगा फिर आकारादेशविधान व्यर्थ होने से यह परिभाषा है ॥

### ८१—अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः ॥ अ० ६।४।१६० ॥

अंगाधिकार में कोई कार्य निष्पन्न हो गया होतो फिर दूसरे कार्य में प्रवृत्ति न होवे । इस से यह आया कि अंगाधिकार के एक ईयसन्लोप कार्य होने में फिर द्वितीय कार्य दीर्घ नहीं हो सकता इसलिये पूर्वोक्त (ज्यादादीयसः) सूत्र में आकारादेश सार्थक हो गया तथा ( रीङ् ऋतः ) यहां जो दीर्घ रीङ् न कहते तो भी (मावीयति) आदि में अकृत् यकारादि प्रत्यय के परे दीर्घ हो जाता फिर दीर्घ रीङ् ग्रहण का यही प्रयोजन है कि रिङ् किये पीछे दीर्घ नहीं हो सकता इसलिये दीर्घ रीङ् पढ़ना चाहिये । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८१ ॥

( परमात्मानं नमस्करोति नमस्यति वा ) इत्यादि प्रयोगों में नमः शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति ( नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंबषट्योगाच्च ) इस सूत्र से होनी चाहिये सो इस समाधान के लिये यह परिभाषा है ॥

### ८२—उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी ॥ अ० २।३।१९ ॥

उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलवान् होती है । उपपदविभक्ति यह कहाती है कि जहां कर्मादि कारक व्यवस्था से किसी निज विभक्ति का नियम न किया हो और जहां कर्मादि कारक व्यवस्था से नियत विभक्ति होती है उस को कारक विभक्ति कहते हैं सो (परमात्मने नमः, गुरवे नमः) इत्यादि में तो उपपदविभक्ति चतुर्थी हो जाती और ( परमात्मानं नमस्करोति ) इत्यादि में उपपदविभक्ति

को बाध के कारकविभक्ति हो जाती है । तथा (गाः स्वामी व्रजति) यहां स्वामी शब्द के योग में उपपद विभक्ति षष्ठी समी ( स्वामीश्वराधिपति० ) इस सूत्र से प्राप्त है परन्तु व्रजति क्रिया में गौश्री को कर्मात्वं होने से द्वितीयाविभक्ति हो जाती है । इत्यादि ॥ ८२ ॥

(मिमार्जिषति) यहां (मृज्×सन्×तिप्=) इस अवस्था में बह्वपेक्ष वृद्धि की अपेक्षा में अल्पापेक्ष अन्तरङ्ग होने से द्वित्व हो कर परत्व से अभ्यासकार्य होके (मिमृज्×सन्×तिप्=) इस अवस्था में इकार ऋकार दोनों को वृद्धि प्राप्त है सो जो अभ्यासको भी वृद्धि होनावे तो ङस्व का अपवाद होनेसे फिर ङस्व नहीं होसकता तो (मिमार्जिषति) आदि प्रयोग भी सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये यह परि० ॥

### ८३--अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य कार्यं भवति ॥ अ० ६।१।१३ ॥

जहां अनन्त्य और अन्य वर्ण के समीपस्थ दोनों वर्ण को जो कार्य प्राप्त हो वहां अन्य के समीपस्थ वर्ण को कार्य होना चाहिये और दूरस्थ व्यवहित पूर्ववर्ण को नहीं होवे इस से (मिमार्जिषति) में अभ्यास को वृद्धि नहीं होती तथा (अदोऽ- च्चति, अदमुगङ् ) यहां क्विप् प्रत्ययात् अञ्चु धातु के परे अदस् शब्द के टि भाग को अद्रि आदेश हो कर ( अद्यूङ् ) इस अवस्था में ( अदसोऽसेर्दादु दो मः ) इस सूत्र से दोनों दकारों से परे उ और दकारों को मकार प्राप्त है सो इस परिभाषा से अन्य को होता है अनन्त्य पूर्व को नहीं इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८३ ॥

(देहि, धेहि) इत्यादि प्रयोगों में जो अभ्यास का लोप होता है सो अलोन्त्य- विधि मान के अन्य अल् का लोप होवे तो (देहि, धेहि) आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकें इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ८४--नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ अ० १।१।६५ ॥

अनर्थक शब्द को कहा कार्य अन्य अल् को न हो परन्तु अभ्यास विकार को छोड़ के धातु को जो द्वित्व किया जाता है उस में एक भाग अनर्थक और दोनों भाग सार्थक होते हैं क्योंकि वहां शब्दाधिक्य होने से अर्थाधिक्य नहीं हो जाता इस से अनर्थक अभ्यास का लोप अन्य अल् को न हुआ तो ( देहि, धेहि ) आदि प्रयोग सिद्ध हो गये । तथा (अव्यक्तानुकरणस्यात इती) इस से अत् भाग को कच्चा पररूप इस परिभाषा के आश्रय से अन्य अल् को नहीं होता ( घटत्×इति= घटिति, पटिति ) इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८४ ॥

जैसे ( ब्राह्मणश्च, ब्राह्मणी च ब्राह्मणी, वत्सश्च वत्सा च वत्सौ ) यहाँ स्त्री वाचक शब्द के साथ पुरुषवाची शब्द एकशेष रह जाता है जैसे ( ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च ) यहाँ भी एकशेष होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ८५-प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ॥

जहाँ प्रधान और अप्रधान दोनों में कार्य प्राप्त हैं वहाँ प्रधान में कार्य होना निश्चित रहे अप्रधान में नहीं (ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च) यहाँ स्त्रीत्व और पुंस्त्व स्वार्थ में अप्रधान और स्वस्वामिसम्बन्ध में प्रधान हैं इसलिये एकशेष नहीं होता इत्यादि । तथा लोक में भी और किसी ने किसी से पूछा कि यह कौन जाता है उसने उत्तर दिया कि राजा यद्यपि राजा के साथ सेनादि सब थे तथापि प्रधान राजा का ग्रहण होता और दो मनुष्यों का देवदत्त नाम हो तो उन में जो प्रधान होता है उसी से व्यवहार किया जाता है ॥ ८५ ॥

स्वस्त्रादिगण में मात् शब्द पढ़ा है उस से ङीप् प्रत्यय का निषेध किया है सो जननीवाचक है और परिमाण अर्थात् तोलन करने वाली सामान्य स्त्री को भी मात् कहते हैं सो दोनों का निषेध हो वा किसी एक का इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### ८६-अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ॥

अवयव की प्रसिद्धि से समुदाय की प्रसिद्धि बलवान् होती है । अवयव की प्रसिद्धि थोड़े अंश में और समुदाय की प्रसिद्धि बहुत अंश में होती है । इस कारण जननीवाचक मात् शब्द के रूढि होने से अवयव मान कर स्वस्त्रादिगण से ङीप् का निषेध होजाता है और परिमाणकर्तृवाचक मात् शब्द के यौगिक होने से समुदायवाची मान कर स्वस्त्रादि गण से ङीप् का निषेध नहीं होता अर्थात् परिमाणवाचक मात्पुरुष होतो (माता, मातारौ, मातारः) और स्त्री होतो (मात्री, मात्र्यौ, मात्र्यः) ऐसे प्रयोग होंगे इस परिभाषा के इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ८६ ॥

( अचि विभाषा ) इस सूत्र में गृ धातु के रेफ को लकारादेश होता है । सो जहाँ कण्ठवाची गलशब्द है वहाँ भी लत्वका विकल्प होतो गर शब्दभी कण्ठवाचक होजावे सो नियम से विरुद्ध है क्योंकि गर शब्द केवल विष का वाची और गल शब्द कण्ठवाची है इन दोनों के अर्थ में लत्व के विकल्प से व्यभिचार होजाना चाहिये इस के समाधान के लिये यह परिभाषा है ॥

• ८८—व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते ॥

व्यवस्थित विभाषा से भी कार्य किये जाते हैं। व्यवस्थित विभाषा उस को कहते हैं कि जिस कार्य का विकल्प किया हो वही कार्य किसी नियतार्थवाचक शिष्टप्रयुक्त शब्द में नित्य हो जावे और किसी में होही नहीं और जहां सब प्रयोगों में उस कार्य का होना न होना दोनों भेद रहें तो उस को अव्यवस्थित विभाषा कहते हैं इस से कण्ठवाची गल शब्द में नित्य लत्व हो जाता है इस के उदाहरणों की कारिका महाभाष्य की यह है कि:—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सहिधिः ।

मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितवृतः ॥ १ ॥

(देवशासौ त्रातो देवत्रातः) यहाँ संज्ञावाचक त्रात शब्द में (नुदविदोन्दत्रा०) इस सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार नित्य ही नहीं होता और क्रियावाचक में तो ( त्राणम्, त्रातम् ) दोनों होते हैं। गल शब्द का लिख दिया। सामान्य यौगिकवाची (गरः, गलः) दोनों ही होते हैं (विभाषा ग्रहः) इस सूत्र में ग्रह धातु से ण प्रत्यय होकर ( ग्राहः ) प्रयोग बनता है सो यह जलजन्तु की संज्ञा है इस में नित्य ण हो जाता है। और जहां नक्षत्र आदि लोकवाची में ग्रह शब्द अच् प्रत्ययान्त होगा वहां ण नहीं होता तथा (इति) शब्द के योग में सत् संज्ञक (शल्, शानच्) प्रत्यय विकल्प से प्राप्त भी हैं जैसे (हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति) यहाँ प्रथमासमानाधिकरण में व्यवस्थितविभाषा मान कर नित्य नहीं होते (गवाक्षः) यह भरोखा की संज्ञा है यहाँ गौ शब्द को अवङ् आदेश विकल्प से प्राप्त है सो नित्यही हो जाता है। और जहाँ गौ के अक्ष नेत्र का नाम होगा वहाँ (गवाक्षम्, गोअक्षम्, गोऽक्षम्) ये तीन प्रयोग होजावेंगे और ( संशितवृतः ) यहाँ ( शाक्कोरन्यतरस्याम् ) इस सूत्र से तादि कित् के परे शो धातु को विकल्प से प्राप्त इकारादेश नित्य होता है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८७ ॥

(आशंसायां भूतवच्च) इस सूत्र में प्रिय पदार्थ की इच्छा संबन्धी भविष्यत्काल में भूतवत् और वर्तमानवत् प्रत्यय कहे हैं अर्थात् भूतकालिक जिस अर्थ में प्रकृति से जो प्रत्यय कहा है वह प्रत्यय उसी अर्थ में उसी प्रकृति से होना चाहिये सो सामान्यभूत में निष्ठा और लुङ् आदि होते हैं और अनद्यतनभूत में लृङ् तथा परोक्षानद्यतनभूत में लिट् होता है इस में यह सन्देह है कि भूतवत् कहने से सामान्यभूतकालिक प्रत्ययों का अतिदेश होवे वा सामान्य विशेष दोनों का। इसलिये यह परिभाषा है ॥



## ८८-सामान्यातिदेशो विशेषानतिदेशः ॥

जहां सामान्य और विशेष दोनोंका अतिदेश प्राप्त हो वहां विशेषका अतिदेश नहीं होता । इस से सामान्यभूत के अतिदेश में विशेषभूत में विहित लङ् लिट् का अतिदेश नहीं होता इत्यादि ॥ ८८ ॥

( सनाशंसभिन्न उः ) इस सूत्र में सन् धातु वा सन् प्रत्यय का ग्रहण होना चाहिये इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

## ८९-प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ॥ अ०६ । ४ । १ ॥

जहां प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों का एकस्वरूप होने से ग्रहण हो सकता हो वहां प्रत्यय ही का ग्रहण हो अप्रत्यय का नहीं । इसलिये सन् धातु का ग्रहण नहीं होता किन्तु सन् प्रत्ययान्त से उ प्रत्यय होता है तथा (चिचीषति, तुष्टूषति) यहां सन् के परे अजन्त को दीर्घ होता है सो (दधि सनाति, मधु सनाति) यहां सन् धातु के परे दीर्घ नहीं होवे । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८९ ॥

( विपराभ्यां जेः ) इस सूत्र में वि परा पूर्वक जि धातु से आत्मनेपद कहा है सो (परा जयति सेना) यहां सेना शब्द के विशेषण परा शब्द से परे भी आत्मनेपद होना चाहिये इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

## ९०-सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ॥

सहचारी और असहचारी दोनों का जहां ग्रहण होसकताहो वहां सहचारी काही ग्रहण हो । और असहचारी का नहीं (विजयते, पराजयते) यहां आत्मनेपद होगया और (बहुविजयति वनम्, पराजयति सेना) यहां न हुआ । क्योंकि जहां वि, परा, केवल उपसर्ग हैं वहां ही । यहां बहुवि वन का और परा, सेना का विशेषण अर्थात् दोनों अनुपसर्ग हैं वहां आत्मनेपद नहीं होता । वन और सेना के विशेषण में वि और परा शब्द उपसर्ग के सहचारी नहीं हैं इस कारण वहां आत्मनेपद नहीं हुआ तथा ( पंचम्यपाङ्परिभिः ) यहां कर्मप्रवचनीय अप् आङ् और परि के योग में पंचमी विभक्ति होती है सो वर्जनार्थ अप् शब्द के साहचर्य से (इत्तं परि विद्योतते विद्युत् ) यहां लक्षण अर्थ में पंचमी विभक्ति नहीं होती । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ९० ॥

जैसे ( अहो आश्चर्यम्, उताहो इमे ) इत्यादि में ओकारान्त निपात की प्रगृह्य-संज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है वैसे ( अतिरस्तिरः समपद्यत, तिरोऽभवत् ) यहां च्विप्रत्ययान्त लाक्षणिक ओकारान्त की निपातसंज्ञा होकर प्रगृह्यसंज्ञा हो जावे तो प्रकृतिभाव होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ९१-लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥ अ० १।१।१५।

लक्षण नाम जो सूत्रसे कार्य होकर बना हो वह लाक्षणिक और जो स्वाभाविक है वह प्रतिपदोक्त कहाता है । उन लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के बीच में जहां संदेह पड़े वहां प्रतिपदोक्त को कार्य हो और लाक्षणिक को नहीं इस से ( तिरोऽभवत् ) यहां लाक्षणिक ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव नहीं होता । तथा ( आशिषा तरति, आशिषिकः ) यहां इस भाग के लाक्षणिक होने से ( इसुसुक्तान्तात्कः ) सूत्र से ठक् प्रत्यय को ककारादेश नहीं होता इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६१ ॥

इस परिभाषा के होने में ये दोष हैं कि जो ( दाधाष्वादाप् ) सूत्र से दाधा की घु संज्ञा होती है सो ( देङ् रक्षणे, दोअवखण्डने, धेट् पाने ) आदि की घु संज्ञा नहीं होनी चाहिये क्योंकि ( दुदाञ्, दुधाञ् ) प्रतिपदोक्त और देङ् आदि लाक्षणिक हैं इस संदेह को निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

### ९२-गामादाग्रहणेष्वविशेषः ॥ अ० १।१।२० ॥

गा, मा, दा ये तीनों जिन सूत्रों में ग्रहण किये हैं वहां सामान्य करके लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों का ग्रहण होता है इस से ( देङ् ) आदि लाक्षणिक धातुओं की भी घु संज्ञा हो जाती है ( दैप् ) धातु में पित् पढ़ने का यही प्रयोजन है कि जो दाप् की घु संज्ञा का निषेध है सो दै मात्र के पढ़नेसे प्राप्त नहीं था इसलिये पित् किया सो जो लाक्षणिक दै मात्र की घु संज्ञा प्राप्त ही नहीं थी तो निषेध के लिये पित् क्यों पढ़ा । इस से यह आया कि लाक्षणिक की भी घु संज्ञा होती है ( घुमास्थागापाजहातिसां हलि ) यहां मा करके मेङ् आदि को भी ईकारादेश होता है ( मीयते, मेमीयते ) इत्यादि गा करके गै आदि भी लिये जाते हैं ( गीयते, जेगीयते ) इङ् धातु के स्थान में जो गाङ् आदेश होता है उस का भी ग्रहण होता है जैसे ( अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम् ) इत्यादि बहुत प्रयोजन हैं ॥ ६२ ॥

( वृद्धिरादैच् ) सूत्र में आ, ऐ, औ, इन तीनों की वृद्धिसंज्ञा होती है । इस में यह संदेह होता है कि जो तीनों वर्णों को एक साथ वृद्धिसंज्ञा होजावेतो ( कारकः ) आदि में एक साथ तीनों वर्ण वृद्धि होने चाहिये । इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ९३-प्रत्ययवयवं वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ अ० १।१।११ ॥

वाक्य की समाप्ति प्रत्येक अवयव के साथ होती है अर्थात् जहां समुदाय को

कार्य कहा है वहां वाक्यस्य क्रिया जब प्रत्येक अवयव के साथ सम्बन्ध कर लेती है तब उस को पूर्णवाक्य कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि (देवदत्तयज्ञदत्तविष्णु-मित्रा भोज्यन्ताम्) यद्यपि यहां यह नहीं कहा कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णु-मित्र को पृथक् २ भोजन कराओ तथापि भोजन क्रिया प्रत्येक के साथ सम्बन्ध रखती है इसी प्रकार यहां आ, ऐ, औ की वृद्धिसंज्ञा पृथक् कही है इसी से प्रत्येकवर्ण के साथ वृद्धि का सम्बन्ध पृथक् २ रहता है ऐसे ही गुण आदि संज्ञा भी प्रत्येक की होती है ॥ ८३ ॥

अब इस पूर्वोक्त परिभाषा से यह दोष आया कि जो (हलोऽनन्तराः संयोगः) यहां प्रत्येक वर्ण की संयोगसंज्ञा रहे तो (निर्यायात्, निर्वायात्) यहां या, वा धातु को संयोगादि मान कर (वान्यस्य संयोगादेः) इस सूत्र से एकारादेश होना चाहिये इत्यादि अनेक दोष आवेंगे। इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ९४-समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ अ० १।१।७ ॥

कहीं ऐसा भी होता है कि समुदाय में वाक्य की परिसमाप्ति होवे अर्थात् वाक्यस्य क्रिया का केवल समुदाय के साथ सम्बन्ध रहे। और प्रत्येक अवयव के साथ पृथक् २ सम्बन्ध न होवे जैसे राजा ने आज्ञा किई कि (गर्गाः शतन्दण्यन्ताम्) यहां गर्गां पर सौ रुपये दण्ड कहा तो उन में प्रत्येक पर सौ२ दण्ड किया जावे वा समुदाय पर तो जैसे समुदाय पर एक दण्ड होता है वैसे ही समुदित हलों की संयोगसंज्ञा होती है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८४ ॥

(वृद्धिरादिष्) सूत्र में आ, ऐ, औ, इन तीन दीर्घ वर्णों की वृद्धिसंज्ञा की है फिर आकार तपर क्यों पढ़ा क्योंकि सवर्णग्रहणपरिभाषा से अक्षरसमान्नाय का ही अण् सवर्णग्राहक है परन्तु जो अक्षरसमान्नाय में ऋस्व पढ़ते हैं उन्हीं का ग्रहण होगा दीर्घों का नहीं फिर दीर्घ से सवर्णग्रहण की प्राप्ति ही नहीं और तपरकरण का यही प्रयोजन होता है कि तपर से भिन्न कालिक सवर्णों का ग्रहण न हो। इस के समाधान के लिये यह परिभाषा है ॥

### ९५-भेदका उदात्तादयः ॥ अ० १।१।१ ॥

जिस वर्ण के साथ जो उदात्तादिगुण लगता है वह उसको स्वभावसे भिन्न कर देता है परन्तु कालभेद नहीं होता दीर्घ उदात्त, दीर्घ अनुदात्त, दीर्घ स्वरित इन में कास का तो भेद नहीं परन्तु उच्चत्व, नीचत्व, समत्व आदिका भेद है सो जो आकार को तपर न पढ़ते तो भी अभेदकों का ग्रहण होही जाता फिर तपर से यही प्रयोजन है कि भिन्नधर्मवाले तात्कालिक उदात्तादि का भी ग्रहण होजावे इसलिये आकार में तपरकरण सार्थक हुआ तथा अन्यतमी दीर्घवर्णों को तपरपढ़ने का यही प्रयोजन है। और लोक में भी उदात्तादिका भेद दीखपड़ता है जैसेकीई

विद्यार्थी उदात्त के स्थान में अनुदात्त बोले तो अध्यापक उसको शासन करता है कि तू अन्यथा क्यों बोलता है । सो जो उदात्तादिमें भेद नहीं होता तो शासन भी नहीं बन सकता । और यह भी दृष्टान्त है कि एकजल शीत, उष्ण और खारी आदि भेदक गुणों के होनेसे भिन्न होजाता है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥८५॥

इस पूर्वोक्त विषय में ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं कि एक देवदत्त बालक युवा वृद्ध आदि अवस्था गुणों और मुण्ड जटिल आदि गुणों से वही बना रहता है कोई भिन्न नहीं होजाता । इस से यह भी आया कि गुण अभेदक हैं और (यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्च) इस सूत्र में यासुट् को उदात्त न कहते किन्तु उस को उदात्त ही पढ़ देते तो उदात्तादि गुणों के भिन्न होनेसे उदात्तके पढ़ने में अनुदात्त होही नहीं सकता फिर उदात्तग्रहण व्यर्थ हुआ इसलिये यह परिभाषा है ।

### ९६-अभेदका गुणाः॥ अ० १ । १ । १ ॥

उदात्तादि गुण अभेदक होते हैं अर्थात् गुणों के स्वरूप को कुछ भी नहीं बदल सकते । इसीलिये (अस्थिदधि० इत्यादि सूत्रों में उदात्त वा अनुदात्त पढ़ा है जो उदात्तादि शब्दों से उदात्त नहीं पढ़ते तो अभेदक होने से विशेष गुणीका ज्ञान नहीं होता इस से उदात्तादि शब्दों का पढ़ना सार्थक होगया । इन गुणों के अभेदक पक्ष में दौघों को तपर पढ़ने का द्वितीय समाधान है (आदैच्) यहाँ तो आकारके तपर पढ़ने का यही प्रयोजन है कि तकार से परे ऐ औ तपर माने जावे तो (महा ओजाः, महौजाः) यहाँ चार मात्रिक स्थानों के स्थान में चार मात्राओं का आदेश भी प्राप्त होता है सो नहो किन्तु द्विमात्रिक ही (ए, ऐ, औ, औ) आदेश होवे इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं इन दोनों में गुणों का अभेदकपक्ष ही बलवान् है ॥ ८६ ॥

(सर्वादीनि सर्वनामानि) इस सूत्र में सर्वनामशब्द में णत्वनिषेध निपातन किया है सो उस को सूत्र में चरितार्थ हो जाने से लौकिकप्रयोगविषय में सर्वनाम शब्द को णत्व होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### ९७-बाधकान्येव हि निपातनानि ॥अ० १ । १।२७ ॥

जिस अप्राप्त कार्य का विधान वा प्राप्त का निषेध निपातन से करदिया हो वह सर्वथा बाधक होजाता है फिर वह वैसा ही प्रयोगकाल में भी रहेगा । इस से सर्वनाम आदि शब्दों में णत्वनिषेध आदि कार्य सिद्ध होजाते हैं ॥ ८७॥

(स्यन्त्स्यति) इस स्यन्दू धातु के प्रयोग में इट् का विकल्प अन्तरङ्ग और निषेध बहिरङ्ग है सो जो अन्तरङ्गकार्य करने में बहिरङ्ग असिद्ध माना जावे तो परस्मैपद में भी इट्का विकल्प होना चाहिये । इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है ॥

## ९८-प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति ॥अ० १ । १ । ६३॥

पर, नित्य और अन्तरङ्ग से भी प्रतिषेध बलवान् होते हैं इस से अन्तरङ्ग भी इट् विकल्प को बाध के नित्य प्राप्त इट् का निषेध होजाता है इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ६८ ॥

(अड्डण्) आदि प्रत्याहार सूत्रों में जो (ण् क्) आदि अनुबन्ध पढ़े हैं उनका अच् के ग्रहण से ग्रहण किया जावे तो (दधि णकारीयति, जरीकरोति ) इत्यादि में णकार ककार के परे इकार ईकार को यणादेश होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

## ९९-सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान् ॥

सब विधियों से लोपविधि बलवान् होती है । इस से (ण्क् ) आदि अनुबन्धों का प्रत्याहार की प्रवृत्ति से पहिले ही लोप होजाता है फिर अच् में णकार ककार के न रहने से (दधि णकारीयति, जरीकरोति ) आदि में यणादेश नहीं होता । इत्यादि । और लोक में भी यही रीति है कि किसी का मृत्यु आजावे तो सब कामों का बाधक होजाता है । अर्थात् अदर्शन अग्रहण होता है ॥ ६९ ॥

( अर्थं प्रत्याययति स प्रत्ययः ) जो अर्थ का निश्चय करावे वह प्रत्यय कहाता है इस अर्थ के न होने से केवल स्वार्थ में विहितों को प्रत्ययसंज्ञा नहीं होवे इसलिये यह परिभाषा है ॥

## १००-अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ॥अ० ३।२।४ ॥

जिन प्रत्ययों की उत्पत्ति में कोई विशेष अर्थ नियत न किया हो वे स्वार्थ में हैं अर्थात् प्रकृत्यर्थ के सहायक और बोधक रहें । इसी से वे प्रत्यय कहावे जैसे (गुप्तिज्किदुभ्यः सन्, यावादिभ्यः कन्) इत्यादि प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं (लुगु-सते, यावकः ) इत्यादि ॥ १०० ॥

(सुपिस्थः ) इस सूत्र से कर्ता में प्रत्यय होते हैं इसलिये (आखनामुत्थानमा-खत्थः ) इत्यादि प्रयोगों में भाव में क प्रत्यय नहीं हो सकता इसलिये यह परिभाषा है ॥

## १०१-योगविभागादिपृसिद्धिः ॥

जहां इष्टकार्य की सिद्धि न हो वहां योगविभाग करना चाहिये । और योग-विभाग कर के इष्टकार्य साधलेना अनिष्ट नहीं होने देना (सुपि) इतना पृथक् सूत्र किया तो यह अर्थ हुआ कि सुबन्त उपपद होतो आकारान्त धातुसे कप्रत्यय हो इस से ( कच्छेन पिबति कच्छपः, कटाहपः, द्वाभ्यां पिबति द्विपः ) इत्यादि प्रयोग सिद्ध हुये पीछे (स्थः) इतना पृथक् किया तो यह अर्थ हुआ कि स्था धातु से सुबन्त उपपद होतो क प्रत्यय हो यहां योगविभाग करके कर्ता से हटाया तो स्वार्थ भाव में आखूथ आदि प्रयोग सिद्ध होगये। इसी प्रकार सर्वत्र जानो ॥१०१॥

• लाघव गौरव का विचार सर्वत्र रहता है कि । जहां तक हो थोड़ा वचन पढ़के बहुत अर्थ निकालना परन्तु ॥

### १०२-पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते ॥

पर्याय शब्दों में थोड़े बहुत होने का विचार नहीं करते कि जहां थोड़े वचन से काम चल सकता है तो उस का पर्याय अधिक अक्षर का शब्द न पढ़ना जैसे ( अन्यतरस्याम्, विभाषा, वा उभयथा ) इत्यादि एकार्थ शब्दों में किसी को पढ़ दिया यह नियम नहीं कि इतना अधिक क्यों पढ़ा इत्यादि ॥ १०२ ॥

जो ज्ञापकरूप परिभाषाओं से कार्य सिद्ध होते हैं वहां सर्वत्र ज्ञापकसिद्ध की प्रवृत्ति नहीं होती इसलिये यह परिभाषा है ॥

### १०३-ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ॥

जैसे अर्थवान् और अनर्थक के ग्रहण में ज्ञापकसिद्ध परिभाषा से अर्थवान् को कार्य होता है सो अन्नन्त को कहा कार्य कनिन् प्रत्ययके परे सार्थक अन् को और मन् प्रत्यय के निरर्थक अन् को भी होते हैं ॥ १०३ ॥

त्रिपादी में हुआ कार्य सपादसमाऽध्यायी में असिद्ध माना जाता है सो (द्रोग्धा, द्रोग्धा, द्रोटा, द्रोटा) यहां त्रिपादिस्थ (वा द्रहमुह०) सूत्र से हकार को घ और ढ आदेश होते हैं सो जो द्वित्व करने में उस घ को असिद्ध मानें तो द्वित्व के एकभाग में घ और द्वितीय भाग में ढ आदेश रहना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

### १०४-पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने ॥ अ० ८ । १ । १ ॥

त्रिपादी का कार्य द्वित्व करने में असिद्ध न माना जावे इस से ( द्रोग्धा द्रोग्धा) आदि में ढत्व नहीं होता तथा (नुन्नं नुन्नम्, नुत्तं नुत्तम्) यहां भी द्वित्व के एक भाग में न और एक में तकार प्राप्त है सो नहो इत्यादि ॥ १०४ ॥

जैसे (गोषु स्वाम्यश्वेषु च) यहां एक स्वामी शब्द के योग में दोनों भिन्नाकृति शब्दों में एकाकृति समी विभक्ति होती है वैसे गो शब्द में सप्तमी और अश्व में षष्ठी विभक्ति क्यों नहीं होती इसलिये यह परिभाषा है ॥

### १०५-एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति ॥ अ० १ । ३ । ३९ ॥

जहां एक आकृति का प्रयोग चरितार्थ होता है वहां द्वितीय वा तृतीय अन्यार्थ सम्भव कारक का प्रयोग नहीं होता इस से वहां अश्व शब्द में षष्ठी नहीं

होसकती क्योंकि एकाकृति समप्रविभक्ति का चरितार्थ है और षठी के होने से भिन्नार्थ भी सम्भव होजावे ॥ १०५ ॥

(विध्याध)इत्यादि प्रयोगोंमें परत्वसे (हलादिःशेषः)इस सूत्रसे अभ्यासके यकार का लोप होजावे तो वकारको संप्रसारण प्राप्त होता है इसलिये यह परिभाषा है ॥

१०६-संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयो भवति

अ० १ । १ । १७ ॥

जो संप्रसारण और संप्रसारण के आश्रय कार्य हैं वे दोनों बलवान् होते हैं इस से ( हलादिः शेषः ) सूत्र से प्राप्त परलोप को भी बाध के प्रथम यकार को संप्रसारण होगया तो फिर ( विध्याध ) आदि प्रयोग बन गये । तथा ( जुहवतुः, जुहुवुः ) यहां संप्रसारण और हा धातु के आकार का अजादि आर्द्धधातुक के परे लोप भी प्राप्त है परत्व से लोप होना चाहिये बलवान् होने से संप्रसारण हो जाता है और संप्रसारण हुये पीछे भी आकारलोप तथा संप्रसारणाश्रय पूर्वरूप भी प्राप्त है परत्व से आकारलोप होना चाहिये बलवान् होने से संप्रसारणाश्रय पूर्वरूप हो जाता है । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ १०६ ॥

जब शुक्ल नील आदि गुणवाचकशब्द अपने केवल गुणवाचकपन अर्थात् स्वतन्त्र अर्थ में पुल्लिङ्गादि किसी विशेष लिङ्ग वा एकत्वादि वचन का आश्रय करने से नहीं प्रतीत होते पुनः जब इन का द्रव्य के साथ समानाधिकरण हो तब कौन लिङ्ग वचन इन में होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

१०७-गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि

भवन्ति ॥ अ० १ । २ । ६४ ॥

गुणवाची शब्द जिस द्रव्य के आश्रित हैं उस द्रव्यवाचकशब्दके जो लिङ्ग वचन हैं वे ही गुणवाचक शब्दके भी हो जावें जैसे । शुक्लं वस्त्रम् । शुक्ला शाटी । शुक्लः कम्बलः । शुक्लौ कंबली । शुक्लाः कम्बलाः ॥ इत्यादि इसी प्रकार सर्वत्र जानो ॥ १०७ ॥

जैसे । कष्टं त्रितः, कष्टत्रितः । इत्यादि में समास हो जाता है वैसे । महत् कष्टं त्रितः । यहां भी समास होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

१०८-सापेक्षमसमर्थं भवति ॥ अ० २ । १ । १ ॥

जो पद विशेष्यविशेषणभाव से द्वितीय पद के साथ सम्बन्ध रखता हो वह सापेक्ष होने से समास होने में असमर्थ कहाता है उस का समास नहीं हो सकता । इस कारण महत् शब्द विशेषण के साथ कष्टसापेक्ष होने से पर के साथ समास को प्राप्त नहीं होता तथा ( भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य ) यहां

भार्या के साथ राजन् शब्द सापेक्ष विशेषण और देवदत्त विशेषण के साथ पुरुष सापेक्ष है इसलिये राजन् और पुरुष दोनों के परस्पर असमर्थ होने से समास नहीं होता । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ १०८ ॥

( परीयात्, अतीयात् ) यहां परि—इयात् । दो इकार को दीर्घ एकारादेश हुआ है सो जो अन्तादिवत् मानें तो ( एतेर्लिङि ) सूत्र से उपसर्गों से परे इण् धातु को ङ्ख प्राप्त है इसलिये यह परिभाषा है ॥

१०९—उभयत आश्रयेनान्तादिवत् ॥ अ० ६ । १ । ८५ ॥

पूर्व पर के स्थान में जो एकारादेश हुआ हो वह पूर्व पर दोनोंके आश्रयकार्यकी प्राप्ति में अन्तादिवत् न हो इस से ( परीयात्, अतीयात् ) आदि में ङ्ख नहीं होता । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ १०९ ॥

जो टित्, कित्, मित् आगम होते हैं उन में किसी टकारादि अनुबन्ध से कोई उदात्तादि विशेष स्वर का विधान नहीं किया है वहां क्या स्वर होना चाहिये इसलिये यह परिभाषा है ॥

११०—आगमा अनुदात्ता भवन्ति ॥ अ० ३ । १ । ३ ॥

टित् आदि आगम अनुदात्त होते हैं । यद्यपि यह बात है कि अर्थवत् आगम इस परिभाषा के अनुकूल जो प्रत्यय वा प्रकृति का स्वर है वही आगम का भी हो तो एक पद में दो स्वर नहीं रहते इसलिये ( भविता ) इत्यादि में आगम भी अनुदात्त विधान किये हैं इस में ज्ञापक यह है कि ( यासुट् परस्मैपदेषूदा० ) इस सूत्र में उदात्तादि करने का यही प्रयोजन है कि आगम सब अनुदात्त होते हैं इस से उदात्त प्राप्त नहीं था और जो प्रत्यय को आद्युदात्त स्वर होता है वह आगम को नहीं प्राप्त था इसलिये उदात्त कहा इत्यादि ॥ ११० ॥

गुप्, तिष्, कित्, मान आदि धातुओंसे स्वार्थ में सन् प्रत्यय होता है उस सन् के नित्य होने से प्रथम गण में शुद्ध प्रयोग नहीं होता तो यह सन्देह होता है कि इन से आत्मनेपद हो वा परस्मैपद हो जो सन्नन्त से पहिले कोई पद विधान होता हो वह ( पूर्ववत्सनः ) इस सूत्र से सन्नन्त से भी होजाता सो तो नहीं होता और सन्नन्तों में कोई विशेष अनुबन्ध भी नहीं है इसलिये यह परिभाषा है ॥

१११—अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति ॥ अ० ३ । १ । ५ ॥

अवयव में किया हुआ चिह्न उस समुदाय का विशेषक होता है कि जिस को वह अवयव फिर न छोड़ देवे । इस से यह आया कि जिन गुप् आदि धातुओं में



जो अनुदात्तेत् चिह्न किया है उन का सन् के विना कहीं पृथक् प्रयोग भी नहीं होता इसलिये गुप् आदि धातुओं का अनुदात्तेत् सन्नन्त का विशेषक हो के अर्थात् गुप् आदि सन्नन्तों को भी अनुदात्तेत् मान कर आत्मनेपद ही (जुगुप्सते, मीमांसते) यहां आत्मनेपद हो गया और जुगुप्सयति वा जुगुप्सयते मीमांसयति, वा मीमांसयते यहां णिजन्त समुदाय को णिच् छोड़ देता है इसलिये परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों होते हैं तथा पण धातु अनुदात्तेत् है उस के ( पणायति ) प्रयोग में आय प्रत्ययान्त से परस्मैपद ही होता है क्योंकि आत्मनेपद तो व्यवहार अर्थ में और एकपक्ष में आर्द्धधातुक विषय में चरितार्थ है (शतस्य पणते) पणायं-चकार । पेणे । पेणाते । और आय प्रत्ययान्त समुदाय को पण छोड़ भी देता है । इसलिये आय प्रत्ययान्त से आत्मनेपद नहीं होता और लोक में भी बैल को किसी अवयव में दाग देते हैं तो वह चिह्न उस बैल का विशेषक हो जाता है कि यह अङ्कित बैल है उसी अवयव का और सब साथ के बैलों का भी विशेषक नहीं होता ॥ १११ ॥

( अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ) इस सूत्र में एकग्रहण का यही प्रयोजन है कि (द्विः, जागृविः) यहां वि प्रत्यय की अपृक्तसंज्ञा नहीं सो जो एकग्रहण न कर-ते और अल् प्रत्यय कहते तो भी अनेकाल् में नहीं होती फिर एकग्रहण व्यर्थ हुआ इस से यह ज्ञापकसिद्ध परिभाषा निकली ॥

## ११२—वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ॥ अ० १ । २ । ४१ ॥

वर्ण के ग्रहण में वर्णजाति का ग्रहण होता है इस से एकग्रहण तो सार्थक होगया क्योंकि अल् मात्र पढ़ते तो जातिग्रहण होने से अनेक अलों का ग्रहण होजाता फिर एकग्रहण से नहीं हुआ और ( धीप्सति, धिप्सति ) यहां दम्भ धातु के दो हलों में भी हल्जाति मानकर (हलन्ताच्च) सूत्र से इक् समीप हल् मान के सन् प्रत्यय कित् होजाता है । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ११२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द

सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना

विरचिते वेदाङ्गप्रकाशे दशमोऽष्टाध्यायानवमश्च

पारिभाषिको ग्रन्थोऽलङ्कृतिमगात् ॥

# वैदिकयन्त्रालय अजमेर के पुस्तकों का सूचीपत्र

## आर साक्षर नियम ।

( १ ) मूल्य रोक भेज कर मंगावें ( २ ) रोक भेजने वालों को १०) रु० वा इस से अधिक पर २०) रु० सैकड़ा के हिसाब से कमीशन के पुस्तक अधिक भेजे जायगे ( ३ ) डाकमहसूल वेदभाष्य छोड़ कर सब से अलग लिया जायगा ५) रु० इस से अधिक के पुस्तक ग्राहक की आज्ञानुसार रजिस्टरी भेजे जायगे ( ४ ) मूल्य नीचे लिखे पते से भेजे और पता तथा आशय स्पष्ट लिखें ॥

क्र०	विवरण	मू०	डा०	विवरण	मू०	डा०
१	ऋग्वेदभाष्य अं० १—१४७	४६)				
२	यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	३६)		व्यवहारभानु	१)	१॥
		मू०	डा०	भ्रमोच्छेदन	१॥	१॥
	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका			अनुभ्रमोच्छेदन	१॥	१॥
	विना जिल्द की	१)	१)	मेलाचांदापुर	१)	१॥
	" जिल्द की	१॥)	१)	आर्योद्देश्यरत्नमाला	१)	१॥
	वर्णोच्चारणशिक्षा	१)	१॥	गोकर्णानिधि	१)	१॥
	सन्धिविषय	११॥)	१॥	स्वामीनारायणमतखण्डन		
	नामिक	११॥)	१॥	गुजराती	१॥	१॥
	कारकीय	११॥)	१॥	वेदविरुद्धमतखण्डन	१)	१॥
	सामासिक	११॥)	१॥	स्वमन्तव्याऽमन्तव्यप्रकाश	१॥	१॥
	स्वैणताद्धित	११)	१)	शास्त्रार्थ फीरोज़ाबाद	१)	१॥
	अव्ययार्थ	११॥)	१॥	शास्त्रार्थकाशी	१)	१॥
	सौवर	११॥)	१॥	आर्याभिविनय	१)	१॥
	आख्यातिक	११॥)	१॥	" जिल्द की	११)	१)
	पारिभाषिक	११॥)	१॥	वेदान्तिध्वान्तनिवारण	१)	१॥
	धातुपाठ	११)	१॥	भ्रान्तिनिवारण	१)	१॥
	गणपाठ	११)	१॥	पञ्चमहायज्ञविधि	११॥)	१॥
	उणादिकोष	११)	१)	" जिल्द की	११॥)	१)
	निघण्टु	११)	१॥	आर्यसमाज के नियमो-		
	अष्टाध्यायी मूल	११॥)		पनियम	१॥	१॥
	संस्कृतवाक्यप्रबोध	१)	१॥	सत्यार्थप्रकाश	२१॥)	१॥
	हवनमन्त्र	१॥)	१॥	संस्कारविधि	११)	१)